आर्षग्रन्थावलि

के

नियम

१—इस ग्रन्थावलि में प्रतिमास ४८ पृष्ठ का एक अंक छपता है ॥

२—एक अंक में एक ही ग्रन्थ छपता है ॥

३—इस में वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र वा श्रौतसूत्रों के सरल हिन्दीभाष्य छपते हैं ॥

४—इसका वार्षिक अग्रिम मूल्य २) रु० है । अलग २ अंक लेने से प्रति अंक ।-) आना ॥

५—डाक व्यय अलग नहीं ॥

पता—

राजाराम
सम्पादक आर्षग्रन्थावलि,
लाहौर ॥

ओ३म्

वेदोपदेशः

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः । एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥

धर्म्ये कर्मणि वर्तमान इहामुत्र च मोदते परं ।

नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत् ॥ १

निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति ॥ २ ॥

तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते । एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते ॥ ३ ॥

नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति ॥ ४ ॥

(आपस्तम्बीय धर्मसूत्रे प्रथमे प्रश्ने सप्तमस्य पटलस्य १—४ सूत्राणि) :—

एषामर्थः—१.—इमं लौकिकं लोके विदितं ख्याति—लाभ—पू-

जो धर्म के कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह इस लोक और परलोक में प्रसन्न रहता है । परन्तु—

१—किसी लौकिक अर्थ को (अर्थात् मेरी जगत् में प्रसिद्धि

आत्मकार्थं प्रयोजनं पुरस्कृत्याभिसंधाय धर्मं न चरेत् । किं कारणम् ॥

२–यस्मादेवं क्रियमाणा धर्मा अभ्युदये फलकाले निष्फला भवन्ति ॥

३–तद्यथा फलमुद्दिश्याम्रो रोप्यते न छायां नापि गन्धं, तथापि छाया गन्ध श्चैवमेवानूत्पद्येते, एवंधर्मेऽनुष्ठीयमाने लौकिका अर्था एवमेवानूत्पद्यन्ते ॥

४–यद्यपि दैवादर्था नानूत्पद्यन्ते, तथापि धर्मस्तावद् भवति स च स्वतन्त्रः पुरुषार्थः, किमन्यैरर्थैरिति ॥

धर्मएव सर्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्ममाश्रिता एव जगति जीवन्ति, धर्म एव च पुरुषस्य महद् बलम् ॥

हो, वा मुझे कुछ लाभ हो, अथवा मेरी लोक में पूजा हो इस दुन्यावी फायदे को) लक्ष्य में रखकर धर्म का आचरण न करे ॥

२–क्योंकि (ऐसे धर्म) फलकाल में निष्फल होजाते हैं (जब धर्म लौकिक अर्थ के लिये किया जाता है, तो वह निष्फल हो जाता है । धर्म का जो सच्चा फल है, वह उससे नहीं मिलता)

३–जैसा कि आम का वृक्ष फलके लिये लगाया जाता है, तो भी छाया और गन्ध मुफ्त में मिल जाते हैं । इसी प्रकार धर्म पर चलने से (लौकिक) अर्थ मुफ्त में मिल जाते हैं ॥

४–और यदि नहीं भी मिलते, तथापि धर्म की हानि तो नहीं होती (धर्म तो बना है, वह स्वयं फल है । उसके और छोटे छोटे फल ढूंढने से उसको स्वयं छोटा बनाना है) (आपस्तम्ब धर्म सूत्र० प्रश्न १ पटल १ सूत्र १—४)

धर्म ही सारे जगत् का सहारा है । वे जन जो धर्म का सहारा लिये हैं वे ही जगत् में जीते हैं, क्योंकि यह ही पुरुष का बड़ा भारी बल है ॥

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति" (तै० आ० १०, ६३, ७)

"येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः । ते जीवन्ति सुखं लोके कर्षन्ति च महद्यशः"
(महाभारत)

"तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात् परंनास्त्यथो अबली-

---

"धर्म सारे जगत् की प्रतिष्ठा है, लोक में धर्मिष्ठ पुरुष की ओर लोग झुकते हैं, धर्म से पाप को भगा देता है, धर्म में सब कुछ सहारा लिये है । इसी कारण से धर्म को सबसे बढ़कर कहते हैं"
(तै० आ० १० । ६३ । ७)

"जिन लोगों की जाति के बहुत से लोग शूरवीर हैं और धर्म के आश्रित हैं, लोक में वे ही सुखी जीते हैं और बड़े यश को खींचते हैं" (महाभारत)

"उस (ब्रह्म) ने कल्याणरूप (जिससे उसकी प्रजा का कल्याण हो) एक और सृष्टि रची (इस से पहिले चारों वर्णों की रचना कह चुके हैं) जिसका नाम धर्म है । सो यह जो धर्म है यह क्षत्रका क्षत्र है (सब को मर्यादा में रखने वाली क्षत्रिय जाति है यह उसको भी मर्यादा में रखने वाला है) इसलिये धर्म से बढ़कर कोई नहीं है । किञ्च, जो बलहीन है वह बड़े बलवान्

यान् बलीयांस माशंसते धर्मेण, यथाराज्ञैवम्"
(शत० ब्रा० १४ । ४ । २ । २६)

सोऽय मेवं महिमा धर्मः कात्स्न्र्येन मन्त्रेष्वाम्नातः । यथोक्त-मुपनिषत्सु—

"तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-स्तानि त्रेतायां वहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके" ॥
(मुण्ड० उप० १ । २ । १)

("नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्म्माणि")
(छान्दो० उप० ७ । ४ । १)

अत्र प्राहुः शङ्कराचार्याः—

का भी धर्म के सहारे से इस प्रकार मुकाबिला करता है, जैसे राजा के सहारे से (छोटा सा सिपाही बलवान् और धनवानों को आगे लगा लेता है) (शत० ब्रा० १४, ४, २, २६)

सो यह इस महिमावाला धर्म पूर्णरूप से मन्त्रों में बतलाया गया है । जैसाकि उपनिषदों में कहा है—

"सो यह सत्य है, कि मन्त्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा है, वे कर्म त्रेता (ऋग्, यजु और साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों) में बहुत फैलाव के साथ वर्णन कियेगए हैं । उनको नियम से आचरण करो हे सचाई के चाहने वालो । लोक में यही तुम्हारे लिये पुण्य का मार्ग है (मुण्ड० उप० १ । २ । १)

"मन्त्र शब्द के अन्तर्गत है और कर्म मन्त्रों के अन्तर्गत हैं" (छान्दो० उप० ७ । ४ । १) इस पर शङ्कराचार्य्य कहते हैं—

"नाम्नि नामसामान्ये मन्त्राः शब्द विशेषाः सन्तः एकं भवन्ति अन्तर्भवन्तीत्यर्थः। सामान्ये हि विशेषोऽन्तर्भवति। मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्ति। मन्त्र प्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते नामन्त्रकमस्ति कर्म। यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्ताकं सत्कर्म ब्राह्मणेनेदंकर्तव्यमस्मैफलायेति विधीयते। याप्युत्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणो दृश्यते सापि मन्त्रेषु लब्धसत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम्। नहिमन्त्राप्रकाशितं कर्म किञ्चिद्ब्राह्मणे उत्पन्नं

"मन्त्र जो कि शब्दरूप हैं, वे नाम में एक होजाते हैं अर्थात् नाम के अन्तर्गत होते हैं। क्योंकि विशेष सामान्य के अन्तर्गत होता है। मन्त्रों में कर्म एक होते हैं। मन्त्रों से प्रकाशित किये हुए ही कर्म किये जाते हैं, कोई कर्तव्य ऐसा नहीं जो मन्त्रों में न बतलाया हो। जो कर्म मन्त्र से प्रकाश पाकर (प्रकटहोकर) आत्मलाभ कर चुका है, ब्राह्मण उसके विषय में यह विधान करता है, कि यह कर्म इस फल के लिये करना चाहिये। और जो ब्राह्मणों में कर्म की उत्पत्ति देखी जाती है (अर्थात् नया कर्म बतलाया हुआ प्रतीत होता है) वह भी मन्त्रों में जो सत्ता पाचुके हैं ऐसे कर्मों को स्पष्ट कियागया है (जो मन्त्रों में संक्षेप से आचुके हैं ऐसा कोई कर्म नहीं, जिसकी उत्पत्ति केवल ब्राह्मण में हो और मन्त्रों ने उसका प्रकाश न किया हो। लोक में भी यह प्रसि-

दृश्यते । त्रयीविहितं कर्मेति प्रसिद्धं लोके । त्रयी शब्दश्चर्ग्यजुः सामसमाख्या । मन्त्रेषु कर्माणि कवयोयान्यपश्यन्निति चाथर्वणे । तस्माद्युक्तं मंत्रेषु कर्माण्येकं भवन्तीति ॥"

अतएव दशतयीषु ।

"मन्त्रोगुरुः (१।१४७। ४) सत्यो मन्त्रः (१।१५२। २) मन्त्रेभिः सत्यैः (१।६७।३) तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम् (१।४०।६) नकिर्देवामिनीमसि न किरायोपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि (१०।१३४।७)

इत्यादयः मन्त्रस्तुतयो भवन्ति ।

द्धि है, कि कर्म त्रयी से विधान कियागया है । और त्रयी शब्द ऋग्, यजुः, साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों का नाम है । मुण्डक उपनिषद् में भी लिखा है कि "मन्त्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा, इसलिये यह बात ठीक है कि मन्त्रों में कर्म एक (अन्तर्गत) होते हैं" इसीलिये ऋग्वेद में–मन्त्र गुरु (१।१४७।४) सच्चा मन्त्र (१।१५२।२) सच्चे मन्त्रों से (१।६७।३) हे देवो हम यज्ञों में उस मन्त्र को कहें जो सुखदेनेवाला और पाप से रहित (बचाने वाला) है (१।४०।६) हे देवो न हम विरुद्ध करते हैं न धोखा देते हैं किन्तु जैसा मन्त्रों में बतलाया है वैसा आचरण करते हैं (१०।१३४।७) इत्यादि, मन्त्रों की स्तुतियें हैं ॥

मन्त्रा एव च धर्मप्रतिपादने समर्थाः, धर्मोह्यलौकिकः न तत्रा-र्वाग्दृशांबुद्धिरप्रतिहताप्रवर्त्तते इति प्रतिपादितेऽपिकेनचिदर्वाग्दृशा तत्रानाश्वास एव जगतांस्यात्, यदातु साक्षाज्जगन्नियन्त्रा प्रकाशितोऽयंधर्मः साक्षात्कृतधर्मभिर्ऋषिभिर्दृष्ट स्तदाऽनश्वासचर्चापि भवितुन्नार्हति अपितु सर्वथा विश्वासपरिपूर्णहृदयास्तत्रप्रवर्त्तामहे। जगन्नियन्त्रा स्वयमेवायं धर्मः प्रकाशित इत्यत्र सर्वेषामैकमत्यम्। तथाहि ॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्यपद्भ्यां

मन्त्र ही धर्म के बतलाने में समर्थ भी हैं। क्योंकि धर्म अलौकिक है, उसको वे लोग क्योंकर जान सक्ते हैं जिन की दृष्टिपरे तक (परलोकतक) नहीं पहुंचती। इसीलिये यदि कोई अदूरदर्शी धर्म को प्रतिपादन भी करे तो उसमें जगत् की तसल्ली नहीं होगी। पर जब साक्षात् जगत् को नियम में रखनेवाले परमात्मा ने इस धर्म का प्रकाश किया है और जिन्हों ने धर्मका साक्षात् किया था उन पारदर्शी ऋषियों ने इस धर्मको देखा है, तब फिर इसमें न तसल्ली होनेकी चर्चा ही नहीं रहती। बल्किपूर्ण विश्वास से हमारा हृदय भर जाता है और हम उसमें विश्वस्त हृदय से प्रवृत्त होते हैं। जगन्नियन्ता ने ही धर्मका प्रकाश किया है, इस विषय में सब की एक सम्मति है सो दिखाते हैं:—

"द्युलोक उसका सिर है। चन्द्र और सूर्य्य नेत्र, दिशाएं कान और उच्चारण कियेहुए वेद वाणी है। वायु प्राण है और विश्व हृदय है पृथिवी पाद है। यह सब भूतों का अन्तरात्मा है

पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा (मुण्ड० उप० २।१।४)

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि सततोऽप्यधिकतर विज्ञान इति प्रसिद्धं लोके । किमुवक्तव्यम-

---

(अर्थात् वह इस ब्रह्माण्ड का आत्मा है और यह ब्रह्माण्ड उसका शरीर है इस शरीर में उसकी वाणी वेद हैं मुण्ड २।१।४)

महान् जो ऋग्वेदादि शास्त्र है जिसको अनेक विद्यास्थानों ने फैलाया है (अर्थात् भिन्न २ विद्या के प्रचार करने वाले ऋषियों और आचार्यों ने जिस के विषय को फैलाकर बतलाया है) जो प्रदीप की न्याईं सब अर्थों का प्रकाश करने वाला है जो सर्वज्ञ के सदृश है, (सर्वज्ञ का ज्ञान भी परोक्ष अपरोक्ष दोनों विषयों में होता है, वेद का विषय भी परोक्ष अपरोक्ष दोनों हैं) उसका कारण ब्रह्म है। इस प्रकार का शास्त्र ऋग्वेद आदि जो सर्वज्ञ के गुणों से युक्त है, उसकी सर्वज्ञ से विना उत्पत्ति नहीं हो सक्ती। जो २ विस्तृत अर्थ वाला शास्त्र भी जिस पुरुष विशेष से उत्पन्न होता है। वह पुरुष उससे भी अधिकतर ज्ञान वाला होता है जैसे व्याकरण आदि पाणिनि आदि के ज्ञानका एक हिस्सा है । यह लोक में प्रसिद्ध ही है-

नेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ् मनुष्यवर्णा-श्रमादि प्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञा-नाकरस्याऽप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिः श्वासवद्यस्मान्महतोभूताद्योनेः संभवः "अस्य महतो भूतस्य निश्वसित मेतद्यदृग्वेदः, (बृह० २। ४।१०) इत्यादिश्रुतेःतस्यमहतोभूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वंचेति"

इति शंकराचार्याः (वेदान्त० १।१।३। भाष्यम्)

"किं येनैव कर्त्रा पृथिव्यादिकार्यं निर्मितं तेनैव वैदिक्यो रचना निर्मिताइति चेद् ओमित्यु-

---

(जब थोड़े अर्थ वाला शास्त्रभी अधिक ज्ञान वाले से उत्पन्न होता है) तब ऋग्वेद आदि शास्त्र जिसकी अनेक शाखाएं हैं, जो देवता पशु मनुष्य वर्ण और आश्रम आदि की अलग २ व्यवस्था करता है, और जो सारे ज्ञानों की खान है, उसकी उत्पत्ति जिस महद्भूतरूप कारण से विना प्रयत्न के ही लीला के तौर पर हुई है उस महद्भूत की सबसे बढ़कर सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता में क्या कहना। (ऋग्वेद आदि परमात्मा से प्रकट हुए हैं इसमें) "इस महद्भूत का सांस है यह जो ऋग्वेद है (बृह०२।४।१०) इत्यादि श्रुति (प्रमाण) है" यह शङ्कराचार्य्य ने (वेदान्त १।१।३) के भाष्य पर लिखा है॥

"क्या जिस कर्ता ने पृथिवी आदि कार्य रचा है, उसी ने वेदकी रचनाएं भी रची है यह पूछते हो, तो हम उत्तर देते हैं।

च्यते । किमत्र प्रमाणमिति चेत् ॥

उच्यते तर्हि सर्वज्ञः स्रष्टुं प्रभवतीदृशम् ।
विचित्रं प्राणिभृत्कर्म फलभोगाश्रयं जगत् ॥
तत्कर्मफलसम्बन्धविदा तदुपदेशिनः ।
तेनैव वेदा रचिता इति नान्यस्य कल्पना ।
एकेनैव च सिद्धेऽर्थे द्वितीयं कल्पयेम किम् ।
अनेककल्पनाबीजं नहि किंचिन विद्यते ॥

जगत्सर्गे तावदेक एवेश्वर इष्यते, न द्वौ बहवो वा....एवं जगत्सर्गवत् स एव वेदानामप्येकः प्रणेताभवितुमर्हति । नानात्वकल्पनायां प्रमाणा-

---

हां । इसमें क्या प्रमाण है, यह पूछते हो, तो कहते हैं कि जिस में असंख्यात प्राण धारियों को अपने २ कर्म का भिन्न २ फल मिल रहा है ऐसे विचित्र जगत् को सर्वज्ञ ही रच सक्ता है। फिर उन २ कर्मों के फल सम्बन्ध को जानने वाले उसही ने उन २ कर्मों का उपदेश करने वाले वेद रचे हैं, इसलिये किसी दूसरे (बनाने वाले) की कल्पना नहीं हो सक्ती । एक से ही जब अर्थ सिद्ध होजाता है, तो दूसरे की कल्पना क्यों करें। अनेक (बनाने वालों) की कल्पना का कोई मूल नहीं है ॥

जगत् की रचना के विषय में तो एकही ईश्वर माना जाता है न दो न बहुत....इसी प्रकार जगत् की रचना की न्याईं वही एक वेदों का भी बनाने वाला हो सक्ता है । बहुत मानने में कोई

भावात् कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च—
अतश्चैककर्तृका वेदा यतः परस्परव्यतिषक्तार्थोपदेशिनो दृश्यन्ते। एकमेव हि कर्म वेदचतुष्टयोपदिष्टैः पृथग्भूतैरप्येकार्थसमवायिभिरङ्गैरन्वितं प्रयुज्यते। तत्र हि हौत्रमृग्वेदेन यजुर्वेदेनाध्वर्यवम् औद्गात्रं सामवेदेन ब्रह्मत्वमथर्ववेदेन क्रियते ॥
कर्त्ता य एव जगतामखिलात्मवृत्तिः कर्म प्रपञ्च परिपाकविचित्रताज्ञः। विश्वात्मना तदुपदेशपराः प्रणीतास्तेनैव वेदरचना इति युक्तमेतत् ॥ आप्तं

प्रमाण नहीं और व्यर्थ कल्पना बढ़ानी है । इस कारण भी वेदों का एक ही कर्ता है, क्योंकि आपस में मिले हुए अर्थ को उपदेश करते हैं । एकही कर्म के अङ्ग अलग २ चारों वेदों में उपदेश किये गए हैं, उनमें से ऋग्वेद से होता का काम, यजुर्वेद से अध्वर्यु का, सामवेद से उद्गाता का और अथर्ववेदसे ब्रह्मा का काम किया जाता है ॥

सारे जगतों को बनानेवाला वह है, जो सारे आत्माओं के कर्मों के फल की विचित्रता को जानता है और उसके अनुसार जल स्थल में अन्तरिक्ष और द्यौ में सारी प्रजा को एक दूसरे से विलक्षण फल दे रहा है, उसी अन्तर्यामी ने उन कर्मों का (जिन का फल वह देता है) उपदेश करनेवाले वेद प्रकाश किये हैं यह बात युक्ति युक्त है । उसी आप्त (यथार्थ वक्ता) भगवान्

तमेव भगवन्तमनादिमीशमाश्रित्य विश्वसिति वेदवचःसु लोकः ॥ इति जयन्त भट्टः(न्यायमञ्जर्याम् १ । ४ । १)

इत्येवं बहुभिः युक्तिप्रमाणैः साधितोऽयमर्थः ऋषिभिर्मुनिभिराचार्य्यैश्च, यथा धर्मो वेदैकवेद्यः ईश्वरेण प्रदर्शितः साक्षात्कृतधर्मभिर्ऋषिभिर्दृष्ट इति ॥

यथा धर्मो वेदैकवेद्यः तथा ब्रह्मापि वेदैकवेद्यम् । अतएवाभिहितम् " नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् " (तै०ब्रा०३ । १२ । ९) तदेवं " धर्मब्रह्मणीवेदैकवेद्ये " इति सिद्धमित्यतो धर्मब्रह्मणी जिज्ञासमानेन वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च । तच्च वेदाध्ययनं न काम्यं किन्तु नित्यम्,

---

अनादि ईश्वर के सहारे लोक (दुनिया) वेद वचनों पर विश्वास करता है ॥ यह जयन्तभट्ट ने (न्यायमञ्जरी १ । ४ । १) की टीका में कहा है । इस प्रकार अनेक तर्क और प्रमाणों से पुराने ऋषि मुनि और आचार्य्यों ने यह बात सिद्ध की है, कि धर्म केवल वेद से ही जाना जाता है । धर्म को परमात्मा ने दर्शाया है और धर्म के साक्षात् करनेवाले ऋषियों ने देखा है ॥

जैसे धर्म केवल वेद से ही जानाजाता है, वैसे ही ब्रह्म भी केवल वेद से ही जानाजाता है । इसीलिये कहा है " जो वेदको नहीं जानता वह उस महान् को नहीं जानता " (तै० ब्रा० ३ । १२ । ९) सो इस तरह " धर्म और ब्रह्म केवल वेद से ही जानने योग्य हैं " यह बात सिद्ध हुई । अतएव धर्म और ब्रह्म के जानने की इच्छा वाले को वेद पढ़ना और जानना चाहिये । यह वेद का पढ़ना काम्य कर्म नहीं किन्तु नित्य कर्म है । इसीलिये पुरु-

अतएव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्, "वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातादिति, पातित्यं चैवमाम्नायते । अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्तं योऽनुसृजत्यभागो वाचिभवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्, इति ॥ (ऋग् १० । ७१ । ६) (तै० आ० २):—

वेदाध्ययनेन यथा परो लोकः सिद्ध्यति, एवमयं लोकोऽपि सि-

पार्थानुशासन में सूत्र कहा है "वेद का पढ़ना नित्यकर्म है जो इसको त्यागता है, वह पतित होता है" और पतित होना इस प्रकार बतलाया है "वेद स्वयं दोषों से रहित है और पाप से बचाने वाला है, यह एक परमात्मा की दी हुई पवित्र वस्तु है जो इसको त्याग देता है, उसका वाणी में हिस्सा नहीं और न स्वर्ग में हिस्सा है । इसविषय में यह ऋचा है—

साथी के जानने वाले साथी को (वेद को, वेद की ओर जो झुकता है, वेद अपने उस साथी को पहचानता है और अपने पास से उस सखा को धर्म और ब्रह्मज्ञान का बल देकर स्वाराज्य में अभिषिक्त करता है) जिसने त्याग दिया है, उसका भी वाणी में हिस्सा नहीं है, वह जो कुछ सुनता है व्यर्थ सुनता है क्योंकि धर्म के मार्ग को नहीं जानता है (ऋग् १०। ७१। ६) (तै० आ० २)

वेद के पढ़ने से जैसे परलोक सुधरता है, वैसे ही यह लोक

द्धयति । वेदस्य परिग्रहेणायुर्वर्द्धते, त्यागेन च मृत्युः प्रभवतीति यथोक्तं मनुना—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ (मनु० ५। ४)

यथाह्यन्नदोषाद्यथालस्याद्यथा वाऽऽचारस्य वर्जनान्मानवान् मृत्युर्जिघांसति, एवमेव वेदानामनभ्यासेनापि मृत्युर्जिघांसति ।

फलान्तराण्यपि तेनैव भगवतोपदिष्टानि—

यः स्वाध्याय मधीतेऽव्दं विधिना नियतः शुचिः। तस्य नित्यंक्षरत्येष पयोदधिघृतं मधु (मनु० २।१०७)

भी सुधरता है। वेदके स्वीकार से आयु बढ़ता है और त्याग से मृत्यु दबालेता है जैसाकि मनु ने कहा है। वेदों का अभ्यास न करने से, आचार के छोड़देने से, आलस्य से, और अन्न के दोष से मृत्यु विद्वानों को मारना चाहता है (मनु ५ । ४)

जैसा अन्न के दोष से, और जैसा आलस्य से, वा जैसा आचार के त्यागने से मृत्यु मनुष्यों को मारने की इच्छा करता है वैसे ही वेदों के त्यागने से भी मृत्यु मारना चाहता है॥

आयु वृद्धि के सिवा और फल भी भगवान् मनु ने बतलाएहैं—

"जो शुद्ध पवित्र होकर नियमसे विधि पूर्वक वर्षभर स्वाध्याय पढ़ता है। उसके हां यह स्वाध्याय सदा दूध दही घी और शहद की धाराएं बहाता है (अर्थात् उसके जीवन को पुष्ट और शुद्ध रखने वाले पदार्थ उसके घरमें पानीकी तरह बहते हैं)(मनु०२।१०७)

मात्रेव हित मिच्छन्त्या श्रुत्या स्वयं प्रोक्तं स्वाध्ययनस्य फलम्—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानां । आयुः प्राणां प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणां ब्रह्मवर्चसम् ॥

मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ (अथर्व० १९।७१।१)

तदेतत्सत्यमेव यतो न वैदिकादभ्युपायादपरः कश्चिदुपायो महत्त्वेन प्रकृष्यते । अतएवावधारितम्—

वेदएव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः (मनु)

तत्रैवं सति इहामुत्र निःश्रेयस्करो वेदोऽवश्य मध्येयस्तदर्थश्चा-

---

माता की न्याईं हित चाहने वाली श्रुति ने अपने पढ़ने का फल स्वयं कह दिया है—

"मैंने वेदमाता की स्तुति की है जो वर देने वाली है । (जिस माता से सब प्रकार के इष्ट फल मिलते हैं) वह द्विजों के पवित्र करने वाली (वेदमाता) हमारे प्रेरने वाली हो । और आयु, प्राण (जीवन, बल) सन्तान, पशु, कीर्ति, धन, और ब्रह्मवर्चस (वेद के पढ़ने और धर्म पर चलने से जो तेज मिलता है) मुझ देकर ब्रह्मलोक को प्राप्त हो (अर्थात् ये लौकिकफल देवे और परमात्मा के साथ मिलावे)

सो यह ठीक ही है । क्योंकि वैदिक उपाय से बढ़कर कोई और उपाय नहीं है । इसीलिये यह निश्चय किया है कि—

वेदही द्विजातियों का परमकल्याण करने वाला है (मनु०)

सो यहां और वहां कल्याण करने वाला वेद अवश्य पढ़ना

नुष्ठातव्य इति ॥

अथेदानीं वेदविषयाः संक्षिप्य प्रदर्श्यन्ते, तत्रादौ ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते, किं स्वरूपं ब्रह्मेति ॥

द्वैरूप्येन हि ब्रह्म बोधयन्ति वेदाः, केवलं, प्रकृतितद्विकार सम्बद्धं च । तद्यथा, यदि कश्चिदनुयुञ्जीत कोयमात्मेति स वक्त व्यो भवति, यश्चक्षुषा पश्यति यश्च श्रोत्रेण शृणोति स आत्मेति । स यदि पुनरेवंब्रूयात्, सत्यमेष आत्मा, परं भवता चक्षुषा श्रोत्रेण च सम्बद्धः प्रदर्शितः, अहं पृच्छामि, समस्तबाह्यसम्बन्धेभ्यः पृथग्भूतः स्वरूपावस्थितः सन् किंस्वरूपः स आत्मेति । तदायद्वक्त-व्यं तदेव तस्य शुद्धं स्वरूपमिति ॥

चाहिये और उसके अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिये ॥

अब वेद के विषय संक्षेप से दिखलाते हैं । उनमें से पहिले ब्रह्मका स्वरूप निरूपण करते हैं, कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?

वेद दो प्रकार से ब्रह्म का निरूपण करते हैं, एक बाहिर के सारे सम्बन्धों से रहित केवल स्वरूपमात्र का, दूसरा प्रकृति और उसके विकारों के साथ सम्बन्ध रखते हुए का। सो जैसे यह बात है, कि यदि कोई पूछे, कि आत्मा क्या है? तो उसे कहा जायगा कि जो आंख से देखता है और जो कान से सुनता है, वह आत्मा है। यदि वह फिर पूछे बेशक यह आत्मा है । पर आपने आंख कान के साथ सम्बन्ध रखता हुआ बतलाया है । मैं पूछता हूं कि बाहिर के सारे सम्बन्धों को अलग रखकर केवल उसका अपना जो स्वरूप है वह बतलाओ कि आत्मा का क्या स्वरूप है । तब जो कहना होगा, वही उसका शुद्ध स्वरूप है ।

एवं किं तद्ब्रह्मेति प्रश्ने यद्युच्यते, य इदं ब्रह्मचक्रं प्रवर्तयति, तद्ब्रह्मेति। स यदि पुनर्ब्रूयात्, सत्यमेतद् ब्रह्म। परंभवता तद्रूपातिरिक्तं वस्त्वादाय तद्रूपं प्रदर्शितम्। अहं ब्रवीमि, निरस्तसमस्त बाह्यसम्बन्धं स्वरूपावस्थितं तत् किंरूपमिति। तदा यदुत्तरं, तदेव तस्य शुद्धस्य स्वरूपमिति। यच्च प्रकृतितद्विकार–सम्बद्धं तद्विशिष्टमिति। शुद्धं च श्यामं विशिष्टं च शबलमित्याख्यायते। एतदेव शुद्धमथर्ववेदे ज्येष्ठं ब्रह्मेति स्कम्भ इति चाभिहितम्। शबलमपि द्विप्रकारं निरूपितम्। समष्टिजगतोऽन्तरात्मतया, व्यष्टिजगतश्चान्तरात्मतयेति। यथाहि,यः शरीरमेतत् प्रवर्तयति स आत्मा।यो वा सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्व व्यापारे प्रवर्तयति सआत्मेत्युक्ते आत्मासमष्टिशरीरस्या-

---

इसी प्रकार ब्रह्म क्या है ? इस प्रश्न का यदि यह उत्तर दिया जाय कि जो इस ब्रह्माण्ड के चक्र को चला रहा है वह ब्रह्म है। यदि वह फिर कहे, बेशक यह ब्रह्म है। पर आपने ब्रह्मके स्वरूप से भिन्न वस्तु के सहारे से उसका स्वरूप दिखलाया है। मैं पूछता हूं, कि बाहिर के सारे सम्बन्धों को अलग रख कर केवल उसी के स्वरूप को लेकर उसका स्वरूप बतलाओ, कि ब्रह्मका क्या स्वरूप है। तब जो उत्तर होगा, वही उसका शुद्ध स्वरूप है। और जो प्रकृति और उसके विकार के साथ सम्बन्ध रखता है वह उसका विशिष्ट स्वरूप है। शुद्ध को श्याम और विशिष्ट को शबल कहते हैं। इसी शुद्ध को ही अथर्ववेद में ज्येष्ठ ब्रह्म और स्कम्भ कहा है। शबल भी दो प्रकार से निरूपण किया है। एक तो समष्टि जगत् (सारे के सारे जगत्) के अन्तरात्मा के तौरपर, दूसरा व्यष्टि जगत् (अलग २ सूर्यादि) के अन्तरात्मा के तौर पर। जैसाकि जब ऐसा कहते हैं, कि जो इस सारे

न्तरात्माऽभिहितो भवति । यदा चोच्यते यश्चक्षुषा पश्यति स आत्मा, एवं यः श्रोत्रेण शृणोति स आत्मेति,तदाऽऽत्मा व्यष्टिशरीरस्यान्तरात्माऽभिहितो भवतीति । एवं ब्रह्मापि यदा समष्टिजगत् प्रवर्तयद्बोध्यते, तदा समष्टिजगतोन्तरात्मतया विवक्ष्यते, यदा तु व्यष्टिजगत् प्रवर्तयद् बोध्यते, तदा व्यष्टिजगतोऽन्तरात्मतया विवक्ष्यते इति—

समष्टिजगत्सम्बद्धं पुनस्त्रिधा निरूपितम्। प्रथमं तावत् नासीत् किमप्युत्पत्तिमद्वस्तु । सर्वमेतदव्यक्तमासीत् । ततः प्राणिनां भोगभूतये ब्रह्मणः सिसृक्षानन्तरं प्रकृतौ क्षोभ उत्पद्यते। ब्रह्म च तदा प्रकृ

शरीर को चला रहाहै वह आत्मा है, अथवा जो इन सारे इन्द्रियों को अपने २ काम में लगाता है वह आत्मा है । इसमें आत्मा को सारे शरीर का प्रवर्तक अन्तरात्मा वतलाया है । और जब यह कहते हैं, कि जो आंख से देखता है वह आत्मा है, इसी प्रकार, जो कान से सुनता है वह आत्मा है । इसमें आत्मा को व्यष्टि शरीर का अन्तरात्मा बतलाया है । इसी प्रकार जब ब्रह्म के विषय में भी यह कहा जाता है, कि जो इस सारे जगत् को चला रहाहै । तब वह समष्टि जगत् का अन्तरात्मा वतलाया है । और जब यह कहते हैं, कि जिसके शासन में सूर्यका उदय होता है । वह ब्रह्म है । तब व्यष्टिजगत् का अन्तरात्मा वतलाया है ॥

समष्टि के सम्बन्धवाला फिर तीन प्रकार से निरूपण किया है । पहिले जब यह उत्पत्तिवाली वस्तु कोई भी न थी, यह सब कुछ अभी प्रकट न हुआ था उसके पीछे प्राणधारियों को अपने २ भोग देने के लिये ब्रह्म को जगत् के रचने की इच्छा होती हैं, तब प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है, ब्रह्म उस समय प्रकृति के

तेरन्तरतया सर्वां प्रकृतिं चालयत् प्रयतिरित्यभिधीयते। अत्र सर्वा प्रकृतिः ब्रह्मणः शरीरं, ब्रह्म च तस्यान्तर्यामिभूतं तां प्रेरयति नियमयति च। यदा पुनर्गतिमत्याः प्रकृतेः क्रमेण महदण्डमुद्भूतं तदा तस्याण्डस्यान्तरात्मतयाऽखिलं तत्तैजसमण्डं प्रवर्तयद् हिरण्य, गर्भ इति परमेष्ठीति ब्रह्मेतिचाभिधीयते। यदा तु तस्मादण्डात् बहिर्निःसृतेदं पृथिव्यादिकमाकाश उड्डीयते। तदा तस्यान्तरात्म तयाऽखिलं पृथिव्यादिकं जगत् स्वस्वव्यापारे प्रवर्तयत् पुरुष इति प्रजापतिरिति विराडिति चाभिधीयते। महतोऽण्डादुत्पद्यानवरतमाकाशे उड्डीयमानानां सूर्यादीनां पक्षिणां तदेव ब्रह्म विश्रामस्थानमित्यतो "यत्र विश्वं भवत्येकनीडमिति" वर्णितम्। एतत्तस्य

अन्दर रहकर सारी प्रकृति को चलारहा है। इसीलिये उस अवस्था में ब्रह्म को प्रयति कहा है। इस अवस्था में सारी प्रकृति ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म उसका अन्तर्यामी होकर उसको प्रेरता है और नियम में रखता है। फिर जब उस गतिवाली प्रकृति से क्रमशः एक भारी अण्डा उत्पन्न होता है। ये सूर्यादि सारे पक्षी जिस अण्डे से निकल कर आकाश में उड़ते हैं। तब वह उस अण्डे का अन्तरात्मा होकर उस अण्डे को चलाता हुआ हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी और ब्रह्मा कहा जाता है। जब फिर उस अण्डे से वाहिर निकल कर ये पृथिवी आदि आकाश में उड़ते हैं, तब उनका अन्तरात्मा होकर पृथिवी आदि सारे जगत् को अपने २ काम में लगाता हुआ पुरुष, प्रजापति और विराट् नाम से कहा जाता है। उस बड़े अण्डे से उत्पन्न होकर लगातार आकाश में उड़ते हुए सूर्यादिक पक्षियों का वही ब्रह्म विश्राम का स्थान है इसीलिये "जो इस ब्रह्माण्ड का एक घोंसला है,

समष्टिसम्बद्धं त्रिविधं स्वरूपम् । व्यष्टीनां पुनरनेकत्वाद्व्यष्टिसम्बद्धमनेकधा प्रतिपादितम्—

तत्रनायंद्रष्टाऽऽदावेवश्यामं रूपं द्रष्टुं शक्नोति। प्रथमं तावत् सूर्यादीनां नियमतः प्रवृत्तिं दृष्ट्वा तन्नियन्तारमवधारयति—

यतश्चोदेतिसूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तंदेवाःसर्वेऽर्पितास्तदुनात्येति कश्चन।(कठ०४।९)

स इत्येवं ज्ञात्वा यदा श्रद्धधानस्तद्दर्शनाय प्रयतते, तदा तत्साक्षात्कुर्वाण उभयरूपं पश्यति श्यामं च शवलं च।

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।

यह वर्णन किया है। यह उसका तीनप्रकार का स्वरूप समष्टि के साथ सम्बन्ध रखने वाला है। व्यष्टियें (अलग २ दैव पदार्थ) अनेक हैं इसलिये व्यष्टियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाला अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

सो इन में से यह द्रष्टा (जीवात्मा) पहिले ही पहिल उसके शुद्धस्वरूप को नहीं देखसक्ता। पहिले तो सूर्यादिकों की नियम से प्रवृत्ति देखकर उनके नियन्ता का निश्चय करता है।

जिससे सूर्य उदय होता है और जिसमें अस्त होता है। सारे देवता उसीमें भोए हुए हैं। कोई उसका उलंघन नहीं करता है। (कठ०४।९) वह इस प्रकार जानकर जब श्रद्धावान् बनकर उसके साक्षात करने के लिये प्रयत्न करता है, तब वह उसको साक्षात करता हुआ उसके दोनों रूपों को देखता है श्याम भी और शवल भी॥

ज्ञानीलोग उस प्रतिष्ठित शाखा को उत्तम जानते हैं,

उतोसन्मन्यन्तेऽवरे येतेशाखामुपासते॥(अथर्व०१०।७।२१)

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ (श्वेता०)

इमामेवावस्थामुद्दिश्यैतदभिहितम्—

ब्रह्मैवेदममृतंपुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वंच प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ (मुण्डक० २।२।११)

जो व्यक्त (इस जगत् में प्रकट) नहीं है। और वे (उनसे) नीचे के लोग व्यक्त को ही समझते हैं (इसलिये) वे उसी शाखा (व्यक्त शाखा) की उपासना करते हैं (अथर्व०१०।७।२१)

जब पुरुष तत्परायण होकर दीपक के सदृश अपने आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखता है। (उस ब्रह्मतत्त्व को जो) अजन्म, अटल, और सारे तत्त्वों से विशुद्ध (केवल स्वरूप) है। उस देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है (श्वेता०)

इसी अवस्था को लक्ष्य में रखकर यह कहा है—

ब्रह्म ही यह अमृत सामने है, ब्रह्म पीछे है। ब्रह्म दाएं है और ब्रह्म बाएं है। ब्रह्म ही नीचे और ऊपर फैल रहा है। यह सब परम सुन्दर सारे ब्रह्म ही है" (मुण्डक २।२।११) जिस अवस्था में विज्ञानी के लिये सबकुछ आत्मा ही होगया, उस अवस्था में एकत्वके अनुभव करनेवालेको क्या मोह और क्या शोक?(ईश०७)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः ॥ (ईश० ७)

स तं विशुद्धं देवं पश्यन्नाश्चर्यवदनुपश्यति, आश्चर्यवदेव पुनस्तं जगन्नियच्छन्तं प्रतिपश्यति। अत्रास्योभयरूपदर्शने कामचारो भवति, श्यामं पश्यन् शबलं पश्यति, शबलमनुभवंश्च श्याममनुभवति । अतएव शुद्धस्य प्रस्तावेऽपि शबलं वर्ण्यते, शबलस्य प्रस्तावे च शुद्धं प्रस्तूयते । तद्धैतद् पश्यन्नृषिराह—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य

तब वह (साधक) उस विशुद्ध देव को देखता हुआ आश्चर्यवत् देखता है, और आश्चर्यवत् ही फिर दूसरी ओर उसको जगत् का प्रबन्ध करता हुआ देखता है । इस अवस्था में उसको दोनों रूप देखने में स्वतन्त्रता होती है । श्याम को देखता हुआ शबल को देखता है और शबल को अनुभव करता हुआ श्याम को अनुभव करता है । इसीलिये शुद्ध के प्रकरण में भी शबल का वर्णन आजाता है और शबल के प्रकरण में शुद्ध का वर्णन आजाता है ऐसा अनुभव करते हुए ऋषिने कहा है—

मैं श्याम से शबल को प्राप्त होता हूं और शबल से श्यामको प्राप्त होता हूं । जैसे घोड़ा रोमों को झाड़ता है (रोमों से धूलि को झाड़ देता है) वैसे पाप को झाड़कर, चन्द्र की न्याईं राहु के (पृथिवी की छाया) के मुख से छूट कर (जैसे छाया के मुख से छूटकर चन्द्रमा चमकता है, वैसे अविद्या के अन्धेरे से छूटकर चमकता हुआ मैं) शरीर को झाड़कर कृतार्थ हुआ

धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भ-
वामीत्यभिसम्भवामीति ॥ (छान्दो० उप० ८।१।१३)

शुद्धं हि ब्रह्मैतदखिलमपि जगत् सर्वतो वृत्वाऽतिरिच्यते, एत च्च सर्वं तस्यैकदेशे वर्तते, यथोक्तम्—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्चपूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि
(ऋ०१०।९०।३)

एतद्धि ब्रह्मणो विशुद्धं रूपम्, अस्य प्रतिपादनायाथर्ववेदे द्वे सूक्ते

नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं ॥ (छान्दो० उप० ८।१।१३)

शुद्ध ब्रह्म इस सारे जगत् को सब ओर से घेर कर भी इससे बढ़कर है और यह सारे का सारा उसके एक हिस्से में पड़ाहुआ है, जैसे कहा है:—

यह सब उसकी महिमा है। पुरुष इससे बहुत बड़ा है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसका एक पाद है और उसके तीन अविनाशी पाद अपने प्रकाश स्वरूप में हैं। (अभिप्राय यह है, कि इस ब्रह्माण्ड को देखकर मनुष्य उसके महत्त्व को बहुत कुछ समझ सक्ता है। परन्तु परमेश्वर के स्वरूप का यह ज्ञान बहुत थोड़ा है, क्योंकि उसका स्वरूप इससे बहुत बढ़कर है) (ऋ० १० ९०।३)

यह ब्रह्म का शुद्धस्वरूप है, इसके प्रतिपादन करने वाले अथर्ववेद में दो सूक्त है। पहिले उपनिषद् में जो शुद्ध का वर्णन है उसको लिखकर फिर उन दोनों सूक्तों की व्याख्या करते हैं—

विधेते,पूर्वं तावदुपनिषदुक्तमभिधाय ततस्ते उपन्यस्य व्याख्यायेते

सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व मदीर्घमलोहित मस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्ध मचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं- न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्रा

उसने (याज्ञवल्क्य ने) कहा, हे गार्गि (जो आकाश का कारण तूने पूछा है)। इस ब्रह्म के जानने वाले अक्षर (अविनाशि ब्रह्म) को कहते हैं कि वह न मोटा है न पतला है न बौना है न लम्बा है, न उसमें लाली है न उसमें स्नेह है, न छाया है। वह अन्धेरा नहीं, वह वायु नहीं, वह आकाश नहीं, वह असङ्ग है, उसमें कोई रस नहीं, कोई गन्ध नहीं। उसका नेत्र नहीं श्रोत्र नहीं वाणी नहीं मन नहीं, न उसमें गर्मी है, न उसमें सांस चलता है, न कोई उसका मुख है। उसका कोई परिमाण नहीं। न उस के अन्दर है न बाहिर है। न वह कुछ खाता है। न कोई उसको खाता है ॥ ८ ॥

इसी अक्षर के प्रशासन (ज़बरदस्तहुक्म) में हे गार्गि ! सूर्य और चांद मर्यादा में खड़े हैं,इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! द्यौ और पृथिवी मर्यादा में खड़े हैं। इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! निमेष (पलक) मुहूर्त, दिन रात, आधे महीने, महीने ऋतु और वर्ष अपनी २ मर्यादा में खड़े हैं। इसी अक्षर के प्रशा

ण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्याः यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिꣳल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति, यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥ (बृहदा० उप० ३ । ८—१०)

अथर्व संहितायां काण्डम् १० मं० सूक्तम् ७ मम्—

"कस्मिन्नङ्गे" इतिस्कम्भसूक्तम्।यथाप्रासादःस्कम्भैर्ध्रियते, एवमस्य

सन में हे गार्गि! श्वेत (सुफैद) पर्वतों से कई नदियां पूर्व की ओर बहतीं हैं कई पश्चिम की ओर बहतीं हैं, चाहे जिस किसी दिशा की ओर बहती हैं, इसी के शासन में बहती हैं। इसी के प्रशासन में हे गार्गि! मनुष्य दान देनेवालों की प्रशंसा करते हैं, देवता यजमान के और पितर दर्वी होम के अनुगत होते हैं ॥९॥

जो इस अक्षर को हे गार्गि! विनाजाने इस लोक में होम करता है, यज्ञ करता है वा तप तपता है, चाहे वह बहुत सहस्रों वर्ष भी हो, वह इसका अन्तवाला ही होता है। जो इस अक्षर को हे गार्गि! विना पहचाने इस लोक से चल बसता है वह दया का पात्र है। और जो इस अक्षर को हे गार्गि! जानकर इस लोकसे चलता है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है ॥ १० ॥ (बृहदा० उप०३)

सर्वस्यापि जगतो धारणाय ब्रह्मैवैकः स्कम्भः। यतश्चायं सर्वासामव स्थानामाद्यभूतः। अतोज्येष्ठंब्रह्मेति तस्य संज्ञा। तस्मिन् सर्वमेतत् तिष्ठति तत्सर्वमेतेनाविष्टिम्। विराडपि तस्मिन्नेव समाहितः।तस्मिन्नेव देवादयः सर्वे समाहिता इत्यादि वर्णनम्—

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्या ध्याहितम्। क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्।१।

अथर्व संहिता काण्ड १० सूक्त ७—

"कस्मिन्नङ्गे" यह स्कम्भ सूक्त है। जिस प्रकार खम्भे घरको धारण किये होते हैं। इसी प्रकार इस सारे जगत को धारण करने के लिये यह ब्रह्म ही एकमात्र खम्भा है। और जिसलिये यह सब अवस्थाओं का आदि है, इसलिये इसको ज्येष्ठ ब्रह्म कहते हैं। उसके सहारे यह सब कुछ खड़ा है। सब कुछ इस से घिरा हुआ है। विराट् भी इसी में स्थित है और देवता आदि सारे इसी में स्थिति रखते हैं इत्यादि रूप से इस सूक्त में वर्णन किया है—

इसके किस अङ्ग में तप स्थित है। किस अङ्ग में ऋत (प्राकृत नियम=कानूने कुदरत) है। कहां व्रत है और कहां इसके श्रद्धा स्थित है। सत्य इसके किस अङ्ग में स्थित है॥ १॥

यहां परमात्मा को इस प्रकार याद किया गया है, जैसे प्रेम से भरा हुआ प्रेमी अपने प्रेमिक को याद करके सारे गुणोंको उसके स्वरूप में पाता है। परमात्मा के प्रेमी को उसीसे भक्ति उसी से श्रद्धा उसीसे ऋत और उसीसे सत्य प्राप्त होता है।

कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा । कस्मादङ्गाद्विमिमीतेधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम्॥२॥

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् । कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा । यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥४॥

अग्नि इसके किस अङ्ग से दीप्त होता है । किस अङ्ग से वायु चलता है । किस अङ्ग से चन्द्रमा स्कम्भ के बड़े अङ्गपर चलता हुआ अपने मार्ग को मिन लेता है (तै कर लेता है) ॥ २ ॥

इसका कौनसा अङ्ग पृथिवी को सहारे हुए है, अन्तरिक्ष किस अङ्गपर स्थित है । द्यौ किस अङ्ग के सहारे पर ठहरा हुआ है और किस अङ्ग पर वह ठहरा हुआ है, जो द्यौ से ऊपर है ॥३॥

जिसको पाने की इच्छा से भरी हुई अग्नि चमकती है, जिस की ओर वेगसे भरी वायु चलती है । जिसकी ओर इच्छा करते हुए मार्ग (धर्म के मार्ग) जाते हैं, उस स्कम्भ को कहो, वह इन में कौन है ॥ ४ ॥

क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः। यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ५ ॥

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने। यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

जिसकी ओर आधे महीने (पक्ष) जाते हैं, जिसकी ओर वर्ष के साथ एकता रखते हुए महीने जाते हैं जिसकी ओर ऋतुएं और ऋतुओं की उपज (वा ऋतुओं के समूह) जाती है, उस स्कम्भ को कहो वह इन में कौन है ॥ ५ ॥

दिन और रात की दोनों युवतियें जो आपस में एक दूसरी से भिन्न २ रूप रखती हैं। आपस में एकता रखती हुई जिसकी ओर भागती हैं, जिसकी ओर इच्छा से भरे पानी जाते हैं। उस स्कम्भ को कहो, वह इन में कौन है ॥ ६ ॥

प्रजापति (विराट्) ने जिसपर सहारा लेकर सारे लोकों को धारण किया है। उस स्कम्भ को कहो, वह इन में कौन है ॥ ७॥

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव * ॥ ८ ॥

कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य। एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा

प्रजापति ने जो सब से ऊपर सबसे नीचे और मध्यमें सृष्टि रची है, जो सृष्टि भान्ति २ के रूप (शकलें) रखती है। उस (सारी सृष्टि) में स्कम्भ कितने अंश से प्रविष्ट हुआ है और जो अंश उसमें नहीं प्रविष्ट हुआ, वह कितना * है ॥ ८ ॥

कितने अंश से स्कम्भ भूत में प्रविष्ट हुआ है और उसका कितना हिस्सा भविष्यत् में पहुंचा है। जिस एक अङ्ग (प्रकृति) को उसने सहस्रों प्रकारों कर दिया है, उसमें स्कम्भ कितने अंश से प्रविष्ट हुआ है † ॥ ९ ॥

---

*अयमभिसन्धिः—इयमखिला सृष्टिस्तस्यैकस्मिन् प्रदेशे वर्तते। तस्य नैजं रूपमस्या बहुतिरिच्यते। अस्य जगतोऽन्तो विद्यते, ब्रह्म तु स्वरूपतोऽप्यनन्तम्। अस्मिन् महिम्नि तस्याल्पोंऽशः प्रविष्टोऽस्ति। अप्रविष्टस्तु कियानिति न परिच्छेत्तुं शक्यते इति।

* तात्पर्य यह है कि यह सारी महती सृष्टि उसके एक अंश में पड़ी है। उसका अपना स्वरूप इस रचना से बहुत बढ़कर है। इस सृष्टि की सीमा है पर उसकी कोई सीमा नहीं। इस महिमा में उसका थोड़ा स्वरूप प्रविष्ट है। जो इससे परे है, वह अनन्त है॥

कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र † ॥ ६ ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः । असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।

जिस में सारे लोकों को और लोकों के परदों को जलों को और वेद को विद्वान् लोग जानते हैं । जिसमें अव्यक्त (जो प्रकट नहीं) और व्यक्त (जो प्रकट है) विद्यमान हैं, उस स्कम्भ को बताओ, वह इन में कौन है ॥ १० ॥

जिसमें तप पराक्रम वाला बनकर ऊंचे व्रतको धारण करता* है॥

---

† ९—अनादिकालादारभ्य यद्यदुद्भूत, तत्सर्वं तस्मिन्नेव स्कम्भे ऽध्याश्रितं सदुद्भूतम्, एवमनन्तं कालं यद्भविष्यति तदपि तस्यैकस्मिन् प्रदेशे सत्तां लप्स्यते, यतो येयं प्रकृतिः यस्या अखिलमुत्पत्तिमदुत्पद्यते सापि तस्यैकस्मिन्नंगे तिष्ठति । तच्चास्या एतावद् परं विद्यते,यच्चिन्तयितुमप्यशक्यम् इति ॥

† अनादि काल से जो कुछ होरहा है, वह सब उस खम्भे के एक अंग पर सहारा लिये होरहा है । और जो आगे अनन्त काल तक होता रहेगा, वह भी उसके एक अंग पर होता रहेगा, क्योंकि सारी की सारी प्रकृति ही जिससे यह सहस्रों प्रकार की रचना होती रही है और होती रहेगी, उसके एक अंग पर खड़ी है और वह इस से इतना परे है जो चिन्तन में भी नहीं आसक्ता ॥

* जिसके आश्रय तप का ऐसा पराक्रम बढ़ता है, कि उससे बड़े २ ऊंचे व्रतों को धारण करके पुरुष उनको पूर्ण करता है ॥

ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥
यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षंद्यौर्यस्मिन्नध्याहि-
ता।यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्य्यो वातस्तिष्ठन्त्या-
र्पिताः स्कम्भं तंब्रूहि कतमःस्विदेवसः ।१२।
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः ॥ १३ ॥

जिसमें ऋत (कानून कुदरत) और श्रद्धा, जल और वेद मोए हुए हैं । उस स्कम्भ को बताओ, वह इन में कौन है ॥ ११ ॥ जिसमें पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सहारा लिये खड़े हैं, जिस में अग्नि, चन्द्रमा सूर्य और वायु मोए हुए ठहरे हैं उस स्कम्भ को बताओ, वह इन में कौन है ॥ १२ ॥

जिस में सब के सब ३३* देवता समाए हुए हैं । उस स्कम्भ को बताओ, वह इन में कौन है ॥ १३ ॥

---

* देवास्त्रयस्त्रिंशत् सन्तीति वेदेषु बहुत्र प्रतिपादितम्—

"आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना (ऋग् १ । ३४ । ११) श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः । तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशत मा वह (ऋग० १ । ४५ । २) ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ ।

अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् (ऋग्० १ । १३९ । ११) एभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः । पत्नी वतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमावह मादयस्व (ऋ० ३ । ६ । ९) ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् । विदन्नह द्वितासनन् (ऋग् ८ । २८ । १) इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः (ऋग् ८ । ३० । २) विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा । सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना (ऋग् ८ । ३५ । ३)

बृहदारण्यकेऽप्येवं प्रतिपादितम्—

"अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ, कति देवा याज्ञवल्क्येति सहैतयैव निविदा प्रतिपेदे। यावन्तोवैश्वदेवस्यानिविद्युच्यन्ते।त्रयश्चत्रीचशता त्रयश्चत्रीचसहस्रेत्योमितिहोवाच।कत्येवदेवाया-ज्ञवल्क्येति।त्रयस्त्रिंशदित्योमितिहोवाच।कत्येव-देवा याज्ञवल्क्येति । षडित्योमिति हो वाच । कत्येवदेवा याज्ञवल्क्येति । द्वावित्योमिति हो

वाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । अध्यर्ध इत्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच..........कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते । (बृह० ३ । ९)

अन्यत्र ऋग्वेदे ३३३९ देवाः प्रतिपादिताः, तद्यथा—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चा सपर्यन् । (ऋग ३ । ९ । ९)

निरुक्ते त्रयो देवा अभिहिताः । अग्निः पृथिव्यां, वायुरन्तरिक्षे, सूर्यो दिवीति । अत्रेतद्रहस्यम्—त्रयो लोकाः, तत्र तिस्रः मुख्याः दिव्यशक्तयः, अग्निः, वायुः, सूर्यश्चेति । ता एव अवान्तरभेदैर्दशभिर्गुणिताः त्रिंशद् भवन्ति । मुख्याश्च तिस्र इति मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्भवन्ति । एवं तिस्रः एव शतेन गुणिता त्रीणि शतानि सहस्रेण च गुणिता त्रीणि सहस्राणि भवन्ति । उभयत्र मुख्यानां त्रयाणां देवानां मेलनेन त्रीणि शतानि त्रयश्च देवा त्रीणि सहस्राणि त्रयश्च देवा भवन्ति । एतदेव बृहदारण्यके ऽभिहितम् । एवं ३००३+३०३+३३ इत्येवं सर्वेषां योजनेन ३३३९ देवा भवन्ति । यथाऽभिहितं (ऋग्वेदे ३ । ९ । ९) यास्केन सुव्यक्तमभिहितं यथैकस्यैवात्मनः बहुधा वर्णनं विद्यते, बृहदारण्यके देवानामनेकत्वमभिधायान्ते "कतम एको देव इति प्राणइति स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते" इत्येक एव देवो निर्धारितः स सर्वस्य प्राणभूतः परमात्मैव।

---

* देवता ३३ हैं, इस विषय का वर्णन वेदों में कई स्थलों पर आया है "आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातंमधुपेय मश्विना"

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही । एकर्षिर्यस्मिन्नार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १४ ॥

जिसमें पहिले उत्पन्न हुए ऋषि, ऋचा, साम, यजु, पृथिवी और एक (सब से बड़ा) ऋषि रहते हैं । उस स्कम्भ को कहो, वह इन में कौन है ॥ १४ ॥

(ऋग् १ । ३४ । ११) अर्थ—हे सच्चे अश्विवयो तुम जा, तीनवार ग्यारह देवता हैं उनके साथ हमारे मधुपेय पर आओ । इसी प्रकार देखो ऋग् १ । ४५ २, १ । १३९ । ११, ३ । ६ । ९, ८ । २८ । १, ३० । २, ३५।३ और बालखिल्य ९ । २ ऋग्वेद ३ । ९ । ९ में ३३३९ देवता कहे हैं ॥

बृहदारण्यक में ३०३, ३००३, ३३, ६, ३, २, डेढ़ और एक देवता क्रमसे वर्णन किये हैं निरुक्त में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ में अग्नि, वायु और सूर्य तीन ही देवता वर्णन किये हैं ।

इसमें रहस्य यह है, कि तीन ही लोक हैं, उनमें तीन ही मुख्य दिव्य शक्तियें हैं अग्नि, वायु और सूर्य्य । और सब देवता इन्हीं की अवान्तर शक्तियें हैं । मुख्य तीन देवता अलग रखकर उनकी अवान्तर और शक्तियें दसगुणा, सौगुणा और हज़ारगुणा मानकर ३३, ३०३, और ३००३ देवता माने हैं और इन सबको मिलाने से ३३३९ देवता हो-जाते हैं, जो ऋग्वेद ३ । ९ । ९ में कहे है । यास्कमुनि ने इसबात को स्पष्ट किया है, कि इस में देवता की बड़ी भारी महिमा है कि एक परमात्मा को इसरीति पर बतलाया है, कि जैसे बहुत से हैं । परमार्थ यह है, कि ये सब दिव्यशक्तियें जो छोटे २ अवान्तर भेदों में तो अधिक से अधिक हैं और मुख्य भेदों में न्यून से न्यून होती हुई एक तक हैं । ये सब अपने २ प्रकाश से परमात्मा को जितलाती हैं । बृहदारण्यक ३ । ९ । में भी जो अन्त में सब देवताओं का एक ही देवता माना है । वह सबका प्राण (जीवन) है और एक परमात्मा है ॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते
समुद्रो यस्य नाडयः पुरुषेऽधि समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १५ ॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाडयस्तिष्ठन्ति
प्रथमाः। यज्ञो यत्रपराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि
कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥
ये पुरुषे ब्रह्मविदुस्ते विदुःपरमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठंयेब्राह्मणंविदुस्तेस्कम्भमनुसंविदुः ।१७।

जो मनुष्य के अर्थ अमृत को और मृत्यु को धारण करता है। जो समुद्र को मनुष्य के अर्थ अपनी नाडियों की न्याईं धारण करता है, उस स्कम्भ को कहो,वह इन में कौन है॥१५॥

(आकाश के) चार प्रदेश (बड़े २ हिस्से अर्थात् चारों दिशाएं) जिसकी मुख्य नाड़ियें है। जिस में यज्ञ पराक्रम * वाला होता है, उस स्कम्भ को कहो वह इन में कौन है ॥१६॥

जो, पुरुप (विराट्) में ब्रह्म को पहचानते हैं, वे ही परमेष्ठी (जो सबसे ऊंचे पद पर स्थित है अर्थात् हिरण्यगर्भ) को जानते हैं। जो परमेष्ठी (हिरण्यगर्भ) को जानता है और जो प्रजापति (विराट्) को जानता है और जो ज्येष्ठ (सब से बड़े, सबसे ऊपर)

---

* यज्ञ जो मनुष्य की वृद्धि का हेतु है उसमें यह बल परमात्मा के सहारे है। क्योंकि यज्ञ परमात्मा का उपदेश किया धर्म है।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुराङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥ १८ ॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराज मूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥ १९ ॥

ब्रह्म को जानते हैं, वे फिर उस स्कम्भ को जानते* हैं ॥ १७ ॥

वैश्वानर जिसका सिर है, अङ्गिरस जिसके नेत्र हैं। और यातु जिसके अङ्ग हैं, उस स्कम्भ को कहो, वह इन में कौन है। ॥ १८ ॥

वेद जिसका मुख है और जिह्वा शहद का चाबुक है, (उसकी जिह्वा अर्थात उसकी वाणी, उसका उपदेश, चाबुक की न्याईं शक्ति के उकसाने और उत्पन्न करने वाला है, पर यह चाबुक भयका कारण नहीं, किन्तु शहद सा मीठा है) और विराट् जिसका ऊधः (हवाना, जैसे गौ के हवाने में बच्चे के लिये दूध भरा रहता है, इसी प्रकार परमात्मा की प्रजा के लिये

* यहां परमेश्वर के चार स्वरूप वर्णन किये हैं, तीन शवल और एक शुद्ध स्कम्भ। और दर्शन का क्रम भी वर्णन किया है, कि जो विराट् में परमात्मा के दर्शन कर लेता है। वही परमेष्ठी के दर्शन कर सक्ता है और जो इन दोनों अवस्थाओं और उससे भी पहिली अवस्था में स्थित परमात्मा के दर्शन करलेता है, वही उस स्कम्भ को पहचानता है ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं-
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २०॥
असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते।२१
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।

इस विराट् में द्रव्य, हमारी जीवन की रक्षा और पुष्टि करनेवाले द्रव्य, भरे हैं) बतलाते हैं। उस स्कम्भ को बतलाओ, वह इन में कौन है॥ १९॥

ऋचाएं जिस से निकली हैं, यजु जिस से उत्पन्न हुए हैं, साम जिसके लोम (रोमों की न्याईं हैं) अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद के मन्त्र, जिन मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वऋषि और अङ्गिरस ऋषि हैं) जिसका मुख हैं, मुझे बताओ, वह स्कम्भ इन में कौन है॥२०॥ (ज्ञानी) लोग उस प्रतिष्ठित (एकरस स्थिर) शाखा को सबसे बढ़कर समझते हैं, जो (शाखा) व्यक्त (प्रकट) नहीं है। और जो निचले लोग व्यक्त (प्रकट) को ही समझते हैं, वे उसी शाखा की उपासना करते हैं *॥ २१॥

---

* परमात्मा की वह महिमा, जिसको यह उसका बनाया हुआ ब्रह्माण्ड प्रकाशित कररहा है। ज्ञानीलोग इस महिमा को देखते हैं और इसी को उपासना करते हैं, पर परमज्ञानी उसको उस अनन्त महिमा को देखकर चकित होते हैं, जिसको यह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशित नहीं कर सका है। यहां भी परमात्मा के शुद्ध और शबल दोनों स्वरूप का वर्णन है॥

भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाःप्रतिष्ठिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३
यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता
स्यात् ॥ २४ ॥

जिस में आदित्य, रुद्र, और वसु समाए हुए हैं । भूत भविष्यत् सब जिसके सहारे हैं, सारे लोक जिसका सहारा लिये खड़े हैं । मुझे बताओ, वह स्कम्भ इन में कौन है ॥२२ ॥

जिस की निधि को ३३ देवता सदा रक्षा करते हैं । उस निधि को आज कौन जानता है, हे देवताओ जिसकी तुम रक्षा करते हो (निधि=दबे हुए खज़ाने । इन ३३ देवताओं के अन्दर जो ब्रह्म की महिमा प्रकाशित हो रही है, वही उस ब्रह्म का इन देवताओं में दबा हुआ खज़ाना है, जिस निधि की ये सदा रक्षा रख रहे हैं । परन्तु ये देवता भी उसके जितने खज़ानों (जितनी महिमा) की रक्षा कर रहे हैं उस निधि को भी कौन जान सक्ता है) ॥ २३ ॥

ब्रह्म के पहचाननेवाले* देवता जिन (३३ देवताओं) में ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं । जो उनको (देवताओं को) प्रत्यक्ष

* अथवा वेद के जानने वाले ॥

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ।२५।
यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥२६
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्म विदो विदुः ॥
॥ २७ ॥

समझलेगा । वह ब्राह्मण होगा, वही ज्ञानी होगा (अर्थात् इन दिव्य शक्तियों के अन्दर उस अन्तर्यामी ब्रह्म को पहचानना ही देवताओं का यथार्थ स्वरूप जानना है । ऐसी पहचान वाला पुरुष ही ज्ञानी है, वही ब्रह्मा वा ब्राह्मण है) ॥ २४ ॥

बड़े हैं वे देवता जो अव्यक्त (न प्रकट) से प्रकट हुए । और स्कम्भ के उस एक हिस्से को ज्ञानी लोग अव्यक्त (छिपाहुआ) कहते हैं, जो (इस व्यक्त से) परे है ॥ २५ ॥

जहां स्कम्भ ने अनादि (प्रकृति) को जन्म देते हुए, उसको वर्तमान आकार (शकल) दिया । उस अनादि प्रकृति को (विद्वान्) स्कम्भ का एक अंग जानते हैं ॥ २६ ॥

३३ देवता जिसके शरीर में अंगों की जगह पर हैं । कई एक वेदवेत्ता (वेद के जाननेवाले) उन्हीं ३३ देवताओं को समझते हैं (वेद का तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर के भिन्न २ अङ्ग आत्मा की भिन्न २ शक्तियों का प्रकाश करते हैं । जो उस अन्तरात्मा को न

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः । स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृत माहितम् । स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्ष मिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रे ध्यृतमाहितम्

जान कर केवल उन्हीं अंगोंपर भूलता है, वह भ्रान्ति में है। इसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म का शरीर है और ये भिन्न २ देवता उसमें भिन्न २ अंग हैं, जो ब्रह्म की भिन्न शक्तियों का प्रकाश कर रहे हैं। जो वेदवेत्ता इन अंगों (देवताओं) में उस अन्तरात्मा को न पहचान कर केवल इन्हीं अंगों पर भूलते हैं, वे वेद के तत्त्व अर्थ को नहीं जानते) ॥ २७ ॥

लोग हिरण्यगर्भ को ही सब से ऊंचा और वाणी की पहुंच से बहुतपरे मानतेहैं। (तत्त्व यह है कि)स्कम्भ ने उस तेज को सृष्टि के अन्दर आदि में प्रकाशित किया ॥ २८ ॥

स्कम्भ में लोक हैं, स्कम्भ में तप है स्कम्भ में ऋत (सृष्टि नियम) रक्खा हुआ है। हे स्कम्भ मैं तुझको प्रत्यक्ष जानता हूं, तुझ इन्द्र में सब कुछ इकट्ठा रक्खा हुआ है ॥ २९ ॥

इन्द्र में लोक हैं, इन्द्र में तप है और इन्द्र में ऋत रक्खा हुआ है। हे इन्द्र मैं तुझको प्रत्यक्ष जानता हूं, कि तुझ स्कम्भ में सब

इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्
॥ ३० ॥

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरो

कुछ इकट्ठा रक्खा हुआ है ॥ ३० ॥

(इन दोनों मन्त्रों में यह प्रकट किया है, कि वे नियम जो इस ब्रह्मांड को चला रहे हैं और वह तप जो आत्मा के तेज को बढ़ाता है और ये सारे पृथिवी आदि लोक ये सब उसी स्कम्भ का आश्रय लिये खड़े हैं। और जो स्कम्भ है वही इन्द्र अर्थात् मालिक ऐश्वर्य्य वाला है और जो इन्द्र है, वही स्कम्भ है। इस अत्यन्त अभेद को जितलाने के लिये ही जो कुछ २९ मन्त्र में कहा है, वही ३० में कहा है। २९ में जहां स्कम्भ पद था, ३० में वहां इन्द्र रख दिया है, और जहां इन्द्र था वहां ३० में स्कम्भ रख दिया है। इससे साफ स्पष्ट कर दिया है, कि इन्द्र और स्कम्भ केवल नाम भेद है। नाम ये दोनों उसी एक परमात्मा के हैं। और इससे अगले (३१) मन्त्र में भी यही बतलाया है, कि मनुष्य भिन्न २ नामों से उसी एक परमात्मा को पुकारता है पिछले २३, २४ और २७ मन्त्रों के आशय से भी यही बात प्रकट होती है)

सूर्य्य के उदय होने से पहिले और *उषा से भी पहिले वह (ईश्वर की अस्तुति करने वाला) एक नाम को दूसरे नाम से बुलाता है। जो अजन्मा सब से पहिले प्रकट हुआ, वह उस

* सूर्य के उदय होने से पहिले जो आकाश में लाली पड़ जाती है उसका नाम उषा है॥

षसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वाराज्य मियाय यस्मात् नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्ष मुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं

स्वाराज्य (पूर्ण स्वतन्त्रता, जिस पर कोई और राजा नहीं) को प्राप्त हुआ, और जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं हुआ है (अभिप्राय यह है, कि ईश्वर की पूजा करने वाला वेद मन्त्रों के द्वारा जब अग्नि, इन्द्र, सूर्य्य, मित्र वरुण को पुकारता है, तो वह एक नाम से दूसरे नाम को पुकारता है, इन्द्र कहकर भी स्कम्भ को पुकारता है, और वरुण कहकर भी उसी को पुकारता है । वही एक अजन्मा सब उत्पत्ति वालों से पहिले है, उसी का इस जगत् में स्वतन्त्र राज्य है, उस से बढ़कर कोई नहीं, वह सबसे ऊपर है । अतएव वही पुकारने योग्य है) ॥ ३१ ॥

उस पर ब्रह्म को नमस्कार है । यह पृथिवी जिस के पाओं है अन्तरिक्ष जिस का उदर (पेट) है और द्यौ को जिसने मस्तक (माथा) बनाया है) ॥ ३२ ॥

उस परब्रह्म को नमस्कार है, सूर्य्य जिस का नेत्र है और चन्द्रमा भी, जो फिर२ नया होता है (नेत्र है) और जिसने अग्नि

यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भोदाधारोर्वन्तरिक्षम् । स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ ॥

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वा-

को अपना मुख बनाया है ॥ ३३ ॥

नमस्कार है उस परब्रह्म को, वायु जिसका प्राण और अपान है, आङ्गिरस (सूर्य के किरण) जिसका चक्षु है, दिशाओं को जिसने श्रोत्र (कान) बनाया है ॥ ३४ ॥

ये जो द्यौ और पृथिवी हैं, इन दोनों को स्कम्भ ने धारण किया हुआ है । स्कम्भ ने विस्तृत अन्तरिक्ष को धारण किया हुआ है । स्कम्भ ने इन फैली हुई छः दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर) को धारण किया हुआ है । यह सारा भुवन स्कम्भ में घिरा हुआ है ॥

नमस्कार है उस पर ब्रह्म को, जो तप और श्रम (जगत् रचना

न्त्समानशे । सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः । किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ॥ ३७ ॥

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं

का ज्ञान और उसको रचना में लाना) से प्रकट होकर सारे लोकों (दुन्याओं) को घेर लेता है । जिसने सोम को केवल (अपने लिये) बनाया है (सोम को उसने इसलिये बनाया है कि उससे उसकी पूजा की जाए । सोमरस इन्द्र आदि के लिये बहाया जाता है, और यहां लिखा है, कि सोमरस को स्कम्भ ने केवल अपने लिये बनाया है, इस से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र आदि नामों से केवल परमात्मा की ही पूजा की जाती है)॥ ३६ ॥

वायु क्यों नहीं बंद होता, मन क्यों ज़रा भी दम नहीं लेता। पानी किस सचाई को चाहते हुए कभी नहीं ठहरते (किसकी शक्ति से अथवा किसके भय से अपने काम में लगातार लगे रहते है) ॥ ३७ ॥

वड़ा यक्ष (पूजनीय) जो तप में वढ़ा हुआ है, भुवन के मध्य में है और भुवन के ऊपर स्थित है । सब उसी में आश्रय लेते हैं, जो कोई नाम देवता है । जैसे वृक्ष का स्कन्ध (कन्धा) जिसकी चारों ओर शाखा हैं (वृक्षकी सारी हरी भरी शाखाएं उसी से

सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ केच देवा वृक्षस्य स्कन्ध परित इव शाखाः।३८। यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा वलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ॥ ३९ ॥

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना । सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥

हरी भरी हैं, जो वड़ा डाल उनको अपने अन्दर से जीवन भेज रहा है। इसी प्रकार सारे देवताओं का जीवन भी वही एक ब्रह्म है) ॥ ३८ ॥

जिसको देवता हाथों से पाओं से वाणी से श्रोत्र (कान) से और नेत्र से परिमित * (यज्ञशाला) में सदा अपरिमित वलि देते हैं, मुझे वताओ, वह स्कम्भ इन में कौन है ॥ ३४ ॥

अन्धकार उससे दूर है, पाप से वह परे है, सारी ज्योतियां

---

* परिमित यज्ञशाला = मिनी हुई छोटी सी यज्ञशाला, अभिप्राय मनुष्य शरीर से है। और तात्पर्य्य यह है, कि मनुष्य के सारे अङ्ग ईश्वर के अर्पण रहें। मनुष्य का चलना फिरना, बोलना चालना सब ईश्वर की आज्ञा में हो। यही उसको भेंट है और इसीलिये पुरुष को यज्ञ रूप वर्णन किया है देखो छान्दो० उप० ३ । १६ ॥

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥
तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्। प्रान्या तन्तूँस्तिरते धत्ते अ-

---

उसमें है, जो तीन (ज्योति) प्रजापति † के अन्दर हैं ॥ ४० ॥

जो जलों में ठहरते हुए सुनहरी वैत को जानता है। वह गुह्य प्रजापति है (जलों में ठहरता हुआ वैत=बिजली। अभिप्राय यह है, कि जो बिजली को उस अवस्था में भी देखता है, जबकि वह व्यक्त नहीं, किन्तु जलोंके अन्दर छिपी हुई है, वही इस जगत् में छिपा हुआ सारी प्रजा का मालिक है ॥ हिरण्ययवेतस अर्थात् सुनहरी वैत ऋग्वेद ४। ५८। ५ में भी इसका वर्णन है— "घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्" अर्थात् जलकी धाराओं को मैं देखरहा हूं और सुनहरी वैत उनके मध्य में हैं) ॥ ४१ ॥

दो युवतियें भिन्न२रूपवाली वारी वारी से छः खूंटियों वाला ताना तनती हैं। एक उन में से तागों को बढ़ाती है और दूसरी उनको धारण करती है। वे उनको तोड़ती नहीं और न अन्त को पहुंचती हैं (दो-युवतियें दिन और रात। छः खूटियां=छः ऋतु हैं। भिन्न २ ऋतु में भिन्न परिवर्तन होता रहता है मानो दिन और रात इन छः खूटियों पर जगत् का ताना बाना बुन रहे हैं। एक इन में से

---

† ये जो तीन ज्योतियां अग्नि, विद्युत्, और सूर्य्य विराट् के अंग हैं ये उसी स्कम्भ में सहारा लिये हैं।

न्या नापवृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥४२॥

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात् । पुमानेनद् वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद् विजभाराधिनाके ॥ ४३ ॥

इमे मयूखा उपतस्तभुर्दिवं सामानि च-

तागा निकालती है, दूसरी उस को धारण रखती है और इन दोनों के इस काम से एक नया वस्त्र बन जाता है। वे इस सिलसिले को बराबर किये जारही हैं और कहीं अन्त नहीं पातीं। यह सारा जगत् सोया हुआ है और इसके अन्दर दिन रात नई से नई रचना होरही है। यह उस महान् स्कम्भ की लीला है) ॥४२॥

इन दोनों में से जो मानो चारों ओर नाच रही हैं, मैं नहीं जानता, कि कौन इन में से पीछे है । एक पुरुष इस वस्त्र को बुनता है और उसको अलग २ करता है, और उसी पुरुष ने इसको नाक (द्यौ से ऊपर जो लोक हैं) के सिरे तक पहुंचाया है (यह काल चक्र जिसमें दिनके पीछे रात और रात के पीछे दिन आता है, यह कब से आरम्भ हुआ, कौन इन में से पहिले है और कौन पीछे है, इस बात को कौन बतला सक्ता है। हम केवल इतना ही जानते हैं और यही जान सक्ते हैं, कि एक आदि पुरुष (प्रजापति) है, जो दिन रात इस सृष्टि के वस्त्र को बुनता रहता है, और जिसने इस वस्त्र को नाक के सिरे तक पहुंचाया है) ॥ ४३ ॥

ये रश्मियें द्यौ को सहारे हुए हैं, सामों को उन्हों ने सिरके

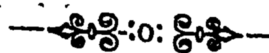
क्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥

अथर्व० १० कां० ७ सूक्त समाप्तम् ॥

तन्तु (बाना) बनाया है ॥ ४४ ॥

४३ मन्त्र का उत्तरार्ध और यह मन्त्र थोड़े भेद से ऋग्वेद में है, पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वितत्ने अधि-नाके अस्मिन् । इमे मयूखा उपसेदुरु सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे (ऋग्वेद १० । १३० ।२) पुरुष (आदि पुरुष प्रजापति) इस यज्ञ (पहिला यज्ञ अर्थात् सृष्टि की रचना) को फैलाता है और ऊपर तक लपेटता है और पुरुष ही इसको इस नाक के सिरे तक फैलाता है । ये रश्मियें (सृष्टि नियम, जिनसे यह सृष्टिका वस्त्र बुना जारहा है) सदस् (यज्ञ में सभ्यों के बैठने की जगह) में बैठी हैं । और सामों (रथन्तर आदि सामों) को उन्होंने बुनने के लिये तिरछे तन्तु (बाना) बनाया है ॥

॥ अथर्ववेद काण्ड १० का सातवां सूक्त समाप्त हुआ ॥



अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ८ ।

इस सूक्त में भी स्कम्भ का वर्णन है, यहां भी बतलाया है, कि स्कम्भ सब से बड़ा, सब से श्रेष्ठ, और सारे जगत् का आश्रय है । स्कम्भ के विषय में एक पूरा सूक्त पहले लिख दिया है, इसलिये यहां इस सूक्त के कुछ मन्त्रों की व्याख्या करके अगला विषय आरम्भ करेंगे—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलंतस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः १

पदार्थ—(यः) जो (भूतं*) हो चुका है (च) और (भव्यं) होगा (च) भी (सर्वं) सारे का (यः) जो (च) और (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है = हकूमत करता है (स्वः†) सुख = आनंद (यस्य) जिसका (च) और (केवलं) केवल (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म को (नमः) नमस्कार हो ॥

अन्वयार्थ—उस पर ब्रह्म को नमस्कार है, जो उसपर हकूमत करता है, जो कुछ हो चुका है, और उस पर भी, जो होगा । और जो सारे (विश्व) पर हकूमत करता है । और आनन्द जिसका केवल है (वह केवल आनन्दमय है उस में दुःख का लेश मात्र भी नहीं है) ॥ १ ॥

---

* असल में यह पद भूतम् लिखना चाहिये । आसानी के लिये म् न लिखकर ऊपर बिन्दु दे देते हैं । जहां अन्त में बिन्दु है, वहां सब जगह ऐसा ही समझना चाहिये ॥

† स्वः, का अर्थ प्रकाश भी है अर्थात् जो केवल प्रकाश स्वरूप है ॥

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः । स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राण न्निमिषच्च यत् ॥ २ ॥

पदार्थ—(स्कम्भेन) स्कम्भ से (इमे) ये दोनों (विऽस्तभिते*) थामे हुए (द्यौ) द्यौ (च) और (भूमिः) भूमि (च) और, (तिष्ठतः) ठहरे हुए हैं (स्कम्भे) स्कम्भ में (इदम्) यह (सर्वं) सारा (आत्मन्वत्) आत्मा वाला (यत्) जो (प्राणत्) सांस लेता है (निमिषत्) आंख झपकता है (च) और (यत्) जो ॥

अन्वयार्थ—स्कम्भ की शक्ति से थमे हुए ये दोनों द्यौ और पृथिवी ठहरे हुए हैं । स्कम्भ में ही यह सब आत्मा वाला बन रहा है, जो सांस लेता है और आंख झपकता है ॥ २ ॥

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

प—(यः) जो (विद्यात्) जान ले (सूत्रं) सूत्र को (विऽततं) फैले हुए (यस्मिन्) जिस में (आऽउताः) पोई हुई (प्रजाः) प्रजाएं (इमाः) ये (सूत्रं) सूत्र को (सूत्रस्य) सूत्रके (यः) जो (विद्यात्) जान ले (सः) वह (विद्यात्) जान सकता है (ब्राह्मणं) ब्रह्म को (महत्) बड़े ॥

अ—जो विद्वान् उस फैले हुए सूत्र (हिरण्यगर्भ) को

---

* जो दो पदों से मिलकर एक पद बना है उनके मध्य में ऽ यह चिन्ह रहता है, अर्थात् यह समास का चिन्ह है ॥

जान लेगा जिसमें ये सारी प्रजाएं प्रोई हुई हैं, और जो फिर सूत्र के सूत्र को जान लेगा, वह उस पर ब्रह्मको पहचानेगा ॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूरसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥४४

प—(अकामः) कामना से रहित (धीरः) धीर (अमृतः) अमर (स्वयंभू) अपने आप होने वाला (रसेन) रस से (तृप्तः) तृप्त हुआ (न) नहीं (कुतः। चन*) किसी से (ऊनः) कम (तं) उसको (एव) ही (विद्वान्) जानता हुआ (न) नहीं (विभाय) डरता (मृत्योः) मृत्यु से (आत्मानं) आत्मा को (धीरं) धीर (अजरं) बूढ़ा न होने वाला (युवानं) जवान ॥

अ—वह कामना से रहित है, वह धीर है, वह अमर है और अजन्मा है, आनन्द से तृप्त है, किसी से न्यून नहीं, उसको हां केवल उस को जान कर ही, जो कि आत्मा, धीर, जरा रहित और युवा है, जानने वाला पुरुष मृत्यु से नहीं डरता ॥

यहां तक ब्रह्म के विशुद्ध स्वरूप का वर्णन हुआ । पर जैसा कि पूर्व (२२ पृष्ठ में) दर्शा आए हैं, कि शुद्ध के प्रकरण में भी शवल का वर्णन और शवल के प्रकरण में शुद्ध का वर्णन आ जाता है । सो यहां भी वीच२ में शवल का वर्णन आया है॥

अव यहां से आगे शवल का वर्णन करते हैं । पहले लिख आए हैं, कि एक तो वाहर के सारे सम्वन्धों से अलग उसके

---

* जहां मध्य में । यह चिन्ह है, वहां दो पद अलग २ हैं, समास नहीं ॥

केवल स्वरूप मात्र का वर्णन है। यही विशुद्ध स्वरूप है। और दूसरा बाह्य जगत् के सम्बन्ध को लेकर जो उसका वर्णन है, अर्थात् जहां इस तरह पर वर्णन है, कि यह बाह्य जगत् उसका शरीर है और यह इसका अन्तरात्मा है, इस जगत् में जो घटनाएं होती हैं, सब उसी का आश्रय लेकर होती हैं। यही इसका शबल स्वरूप है। इस अवस्था में ब्रह्म का दो प्रकार से वर्णन किया है, एक तो यह, कि यह सारा जगत् उसका शरीर है और वह इस सारे जगत् का नियन्ता है। दूसरा जहां अलग २ सूर्यादिकों का नियन्ता बतलाया है। यहां पहले उन सूक्तों को लिखते हैं, जिन में ब्रह्म को समष्टि जगत् का अन्तरात्मा बतलाया है। पहले (१८पृष्ठ में) लिख आए हैं, कि इसका तीन प्रकार से वर्णन है, विराट्, हिरण्यगर्भ और प्रजापति। इन में से पहले प्रजापति का वर्णन करते हैं—

पहले जब यह उत्पत्ति वाली वस्तु कोई भी न थी। यह सारा जगत् प्रलय की अवस्था में था। जो कुछ हम अब देखते हैं, यह अभी प्रकट नहीं हुआ था। और न ही अभी इस को प्रकट करने वाली क्रिया ही उत्पन्न हुई थी। उस समय भी परमात्मा का हाथ इस सारे प्रबन्ध में था। उसके नियम ने प्रकृति को पलटा दिया और फिर इस में जगत् रचने की क्रिया उत्पन्न हुई। ब्रह्म उस समय प्रकृति के अन्दर बाहर रहकर सारी प्रकृति को चला रहा है, इसीलिये उस अवस्था में ब्रह्म को प्रजापति कहा है। इस अवस्था का इस प्रकार वर्णन है—

ऋग्वेद-मण्डल १० सूक्त १२९।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्

जो नो व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

प—(न) नहीं (असत्) असत् (आसीत्) था (नो) नहीं (सत्) सत् (आसीत्) था (तदानीं) उस समय (न) नहीं (आसीत्) था (रजः) अन्तरिक्ष (नो) नहीं (विऽओम) आकाश (परः) परे (यत्) जो (किम्) कौन (आवरीवः) ढांपे हुए था (कुह) कहां (कस्य) किसकी (शर्मन्) छाया में = पनाह में (अम्भः) जल (किम्) क्या (आसीत्) था (गहनं । गभीरं) घना और अथाह ॥

अ—उस समय न असत् था, न सत् था, न अन्तरिक्ष और न यह (उस से) परे जो आकाश है । कौन ढांपे हुए था, और कहां और किस की छाया के नीचे (ढांपे हुए था) । क्या वहां गहन और अथाह जल था ?

उस सगय = आरम्भ में । न असत् था और न ही सत् था असत् = अविद्यमान(नामौजूद)भी नहीं था । और सत् = विद्यमान भी नहीं था, अर्थात् अभाव भी नहीं था । क्योंकि यदि अभाव होता, तो फिर यह हो कैसे जाता, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। पर जैसा अब है, ऐसा भी न था ॥

कौन ढांपे हुए था, कहां और किस की छाया के नीचे ढांपे हुआ था = जैसे अब इस पृथिवी को वायु चारों ओर से ढांपे हुए है । और अन्तरिक्ष में भरपूर होकर आकाश के सहारे उसको ढांपे हुए है । इस प्रकार उस समय न ढांपने वाला था, न उसके लिये स्थान था, न उसको कोई आश्रय देने वाला था।

गहन और अथाह जल से अभिप्राय सूक्ष्म सृष्टि से है (देखो० बृह०उप० पृष्ठ २८ का नोट) अर्थात् जो पहले ही पहल प्रकृति से सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है, वह भी उस समय नहीं हुई थी ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥ २ ॥

प—(न) नहीं (मृत्युः) मृत्यु (आसीत्) था (अमृतं) अमृत (न) नहीं (तर्हि) उस समय (न) नहीं (रात्र्याः) रात का (अन्हः) दिन का (आसीत्) था (प्रकेतः) * निशान (आनीत्) जीवित था (अवातं) विना वायु के (स्वधया) प्रकृति के साथ (तत्) वह (एकं) एक (तस्मात्) उस से (ह) बेशक (अन्यत्) और (न) नहीं (परः) परे (किं। चन) कुछ (आस) था ॥

अ—उस समय न मृत्यु था न अमृत (न मरना था न नमरना) न दिन और रात का कोई चिन्ह था। हां जीवित था अपनी प्रकृति के साथ वह एक, विना वायु के (उसका जीवन सांस लेने पर निर्भर नहीं था, वह स्वयं जीवी था) बेशक उस से परे और कुछ नहीं था ॥ २ ॥

प्रकृति के साथ वह एक = इसका तात्पर्य यह है, कि

---

* प्रकेतः—प्रकाश देने वाले के अभिप्राय में प्रयुक्त है, देखो ऋग्० १।११३।१ और १।९४।१५ अर्थ यह है दिन और रात का प्रकाश करने वाला, अर्थात् जिससे यह मालूम हो, कि यह दिन है और यह रात है ऐसा चिन्ह नहीं था ॥

प्रकृति भी उस से दूसरी जगह पर न थी, किन्तु प्रकृति उसका शरीर थी और वह उसका अन्तरात्मा था। इस तरह पर ये दोनों एक होरहे थे। प्रकृति जड़ शक्ति थी और वह इसके अन्दर चिति शक्ति थी। प्रकृति, मैटर (Matter) और ब्रह्म, फोर्स (Force) या इच्छा शक्ति (Will power) थी। ये दोनों आत्मा और शरीर हैं। इसीलिये प्रकृति के साथ एक कहा है। यही एक सारे विश्व का कारण है। वह अपने शरीर से इस सारे विश्व को रचता है और आप उस सब में अन्तरात्मा होकर रहता है। तब उसको-

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यःससुपर्णोगरुत्मान्।
एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"

इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं और वही दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् है। उस एक सत् (हस्ती) को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से बोलते हैं, अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं"

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

श—(तमः) अन्धेरा (आसीत्) था (तमसा) अन्धेरे से (गूढं) छिपा हुआ (अग्रे) आरम्भ में (अप्रऽकेतं *) बिना चिन्ह के (सलिलं†) एक रूप बना हुआ (सर्वं) सारा (आः)

---

*अप्रकेतं = प्रकाश न देने वाला, अर्थात् यह सब कुछ जो अब है, था उस समय भी, पर अलग २ विविक्त (तमीज़) नहीं किया जा सक्ता था॥

† सलिलं = इकट्ठा हुआ हुआ, जिस में गड़बड़ मची हुई है, यह क्या है और यह क्या है, ऐसा कोई विभाग नहीं हो सक्ता॥

था (इदं) यह (तुच्छयेन) तुच्छ से=कुछ न से=खाली से (आभु) फैला हुआ सारा (अपिऽहितं) ढपा हुआ (यत्) जो (आसीत्) था (तपसः) तप की (तत्) वह (महिना) शक्ति से (अजायत) उत्पन्न हुआ (एकं) एक ॥

अ—आरम्भ में अन्धेरा था अन्धेरे में छिपा हुआ। यह सब विना अलग २ चिन्ह के एक रूप हो रहा था * यह सारा, जो उस समय तुच्छ से ढपा हुआ था, † तप की शक्ति से वह एक उत्पन्न हुआ ‡ ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ४

(कामः) इच्छा (तत्) सो (अग्रे) आरम्भ में (अधि। सम्। अवर्तत) उत्पन्न हुई (मनसः) मन का (रेतः) बीज (प्रथमं) पहला (यत्) जो (आसीत्) था (सतः) सत् के (बन्धुं) बन्धु

---

* देखो मनु १। ५ ॥

† तुच्छ से ढपा हुआ था, जिस तरह अब सूर्य्य को मेघ ढांप लेता है, इसी तरह उस समय भी यह सारा विश्व ढपा हुआ तो था, पर ढांपने वाला परदा कोई नहीं था। वह वस्तु भी ढप जाती है, जिस पर परदा डाल दिया जाए, और वह भी ढप जाती है, जो अपने कारण में लीन हो जाए। यह जगत् उस समय अपने कारण में लीन था ॥

‡ वह एक, जो प्रकृति के साथ एक है, इसी आशय से उपनिषद में कहा है "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेयेति"। तप=गर्मी वा सृष्टि रचने का ज्ञान ॥

को (असति) असत् में (निः । अविन्दन्) पाया (हृदि) दिल में (प्रतिऽइष्य) ढूंढ कर (कवयः) बुद्धिमानों ने (मनीषा) बुद्धि से

अ—सो आरम्भ में इच्छा उत्पन्न हुई, जो मनका (जगत् रचने के ख्याल का) पहला बीज था । बुद्धिमानों ने बुद्धि से दिल में खोज करके सत् के बन्धु को असत् में पाया ॥ ४ ॥

जिस इच्छा के अन्दर यह जगत् अब चल रहा है, वही इच्छा इस जगत् की रचना का बीज है, जिन विद्वानों ने अपने दिल में खोज की, उन्होंने इस बात को पालिया कि वह जो इस सत्, व्यक्त (प्रकट) जगत् का बन्धु है, वही उस असत्, अव्यक्त (अप्रकट) के अन्दर था, उसी की इच्छा से यह प्रकट हुआ । सत्=व्यक्त और असत्=इससे उलट अर्थात् अव्यक्त । असत् अभाव के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है, जैसा कि इसी सूक्त के पहले मन्त्र में है ॥

"सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" इसका अर्थ योरुपीय विद्वानों ने यह किया है कि "सत् की रिश्तेदारी को असत् में पाया" अर्थात् यह व्यक्त उस अव्यक्त से प्रकट हुआ है । इस अर्थ में बन्धु शब्द बन्धुता के अर्थ में लिया गया है । हमने जो अर्थ दिया है उसमें बन्धु शब्द अपने असली अर्थ में है और अभिप्राय यह है, कि जैसे अब इस जगत् के नियमित प्रबन्ध को देखकर एक विद्वान् पुरुष किसी चेतन का हाथ इस प्रबन्ध में देखता है यदि वह और आगे बढ़कर देखेगा, तो वह उस सब से पहली क्रिया में भी उसी हाथ को प्रबन्ध करता हुआ पाएगा, जो इस प्रकृति को इस अवस्था में लाने के लिये सब से पहली क्रिया हुई ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा

मधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिःपरस्तात् ॥५॥

प—(तिरश्चीनः) तिरछी (विततः) फैली (रश्मिः) किरण (एषां) इन की (अधः । स्वित्) नीचे क्या (आसीत्) था (उपरि । स्वित्) ऊपर क्या (आसीत्) था (रेतःऽधाः) बीज डालने वाले*=आत्मा (आसन्) थे (महिमानः) शक्तियां (आसन्) थीं (स्वधा) प्रकृति (अवस्तात्) वरे (प्रयतिः) प्रयत्न करने वाला = परमात्मा (परस्तात्) परे ॥

अ—इन (विद्वानों) की एक तिरछी किरण फैली । (तब इसके) नीचे क्या था और ऊपर क्या था । बस जीवात्मा थे और बड़ी २ शक्तियां था । प्रकृति वरे और परमात्मा परे था ॥

आशय यह है कि विद्वानों ने इस सृष्टि के दो विभाग ख्याल किये। एक जहां मनुष्य वास करते हैं और दूसरा जहां से इसको प्रकाश और जीवन मिलता है। जैसे एक सड़क जो पूर्व पश्चिम को जाती है, दक्षिण उत्तर की सड़क उसमें से गुज़रती हुई उसके दो हिस्से कर देती है, इस तरह उनके ज्ञान की रेखा (किरण) मध्य में फैली, जिससे निचले और उपरले ब्रह्मांड के दो विभाग हुए । जब उन्होंने इस बात को देखा, कि नीचे क्या था और ऊपर

* मंत्र ४ में बीज इच्छा को प्रकट किया है। यहां भी इच्छा अर्थ लेकर रेतोधा का अर्थ इच्छा वाले अर्थात् आत्मा किया गया है। सायणाचार्य ने भी रेतोधाः= कर्म करने वाले और भोगने वाले जीव ही लिखा है ॥

क्या था, तो उनको नीचे ऊपर सब जगह चेतन आत्मा और बड़ी २ शक्तियां जो इस जगत् में काम कर रही हैं, जान पड़ीं और उन्होंने इस प्रकृति को अपने आप काम करता नहीं देखा, किन्तु इसके परे एक प्रयत्न देखा, जो इसको चला रहा है ॥

को अद्धावेद क इह प्रवोचत्- (= ३।५४।५)
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना-
थाको वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

प—(कः) कौन (अद्धा) ठीक २ (वेद) जानता है (कः) कौन (इह) (प्र। वोचत्) कह सक्ता है (कुतः) कहां से (आऽजाता) आ उत्पन्न हुई (कुतः) किस से (इयं) यह (विऽसृष्टिः) भिन्न २ रचना (अर्वाग्) वरे (देवाः) देवता (अस्य) इसके (विऽसर्जनेन) भिन्न २ रचना से (अथ) तब (कः) कौन (वेद) जानता है (यतः) जहां से (आबभूव) आविद्यमान हुई ॥

अ—कौन ठीक २ जानता है और कौन यहां कह सक्ता है, कहां से यह आ उत्पन्न हुई और किस (कारण) से इसकी भिन्न २ रचना हुई, जब कि देवता इस विविध रचना से वरे के हैं, तब कौन जान सक्ता है, जहां से आविद्यमान हुई ॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

प—(इयं विसृष्टिर्यत आबभूव) यह विविध रचना जहां से आविर्भमान हुई (यदि । वा) चाहे (दधे) उसने रचना (तरतीब) दी हुई थी(यदि,वा) चाहे(न) नहीं (यः) जो (अस्य)इसका(अधिऽ अक्षः) अधिष्ठाता (परमे) सब से ऊंचे (वि, ओमन्) आकाश में (सः)वह (अंग) प्यारे (वेद) जानता है(यदि । वा) चाहे (न. नहीं (वेद) जानता है ॥

अ—यह विविध रचना जहां से आविर्भमान हुई है, चाहे उसने इसको यह तरतीब दी हुई थी चाहे नहीं । हे प्यारे जो इस का मालिक परम आकाश में है वही (इस भेद को) जानता है चाहे नहीं जानता है ॥

इस सूक्त से एक बड़ी अद्भुत शिक्षा मिलती है, मन्त्र ५ तक इस बात को प्रकट किया है, कि यह रचना जो अब अनगिनत भेदों में है, पहले अपने अन्दर कोई भेद नहीं रखती थी। यह एक साम्यावस्था (तुल्यता की अवस्था) में थी, पर यह निरी जड़ न थी इसके अन्दर इसका चेतन अधिष्ठाता था, उस की इच्छा से इसमें परिणाम (तबदीली) हुआ । वह इसके अन्दर एकरस है,उसमें कोई परिणाम नहीं होता,अर्थात् जैसा कि अहिरन के ऊपर सारा घाड़ घड़ा जाता है,अहिरन में कोई परिणाम नहीं होता, परिणाम उस वस्तु में होता है, जो उसके ऊपर घड़ी जा रही है । इसी प्रकार यह प्रकृति उस एकरस ब्रह्म के ऊपर बदलती रहती है, इस का घाड़ घड़ा जाता है, और ब्रह्म उसके अन्दर अहिरन की न्याईं बिना परिणाम के रहता है। प्रकृति अपनी अवस्थाको बदलती है पर नित्य है,इसलिये प्रकृति को परिणामि नित्य कहते हैं। ब्रह्म उसके अन्दर कूट (अहिरन)

की नांई टिका रहता है इसलिये उसको कूटस्थ नित्य कहते हैं, और इसीलिये यह कहा है, कि "कि प्रकृति वरे है और ब्रह्म परे है" प्रकृति का परिणाम हमारी आंखों के सामने हैं, और ब्रह्म उस के अन्दर छिपा हुआ है। प्रकृति को हम पहले जानते हैं और ब्रह्म को पीछे पहचानते हैं। मनुष्य की गति यहां तक है और इसीलिये (मन्त्र ४ में) यह प्रकट कर दिया है कि "बुद्धिमानों ने बुद्धि से इस बात को पालिया" मन्त्र ६, और ७ का अभिप्राय यह है, कि जो बातें मनुष्य की पहुंच से परे हैं, उन प्रश्नों में पड़कर समय खोना उचित नहीं। जैसा कि यह पृथिवी जिन परमाणुओं से बनी है, वे इसके बनने से पहले कहां फैले हुए थे, और कितने कोसों में फैले हुए थे। वह जगह कौन है, कि जिस जगह के परमाणु परस्पर मिल २ करके इतनी बड़ी ठोस पृथिवी बन गई और सूर्य्य बना इत्यादि। दूसरा जब आदि में एक ही प्रकृति थी, तो यह रचना भिन्न २ किस तरह हुई, कहीं वे तत्त्व हैं, जिन से पानी बनता है और कहीं वे हैं, जिनसे वायु बनता है। एक आदि प्रकृति से अनेक तत्त्व किस तरह प्रकट हुए। फिर यह विविध रचना जिस तरह अब है, किसी जगह सूर्य्य चन्द्र तारे और किसी जगह पृथिवी है और इसी प्रकार अनगिनत सूर्य्य और अनगिनत पृथिवियां है, क्या इनके कारण में भी अपनी जगह की अपेक्षा से यही तरतीब थी अर्थात् एक सौर जगत् की प्रकृति (मैटीरियल) पहले ही दूसरे सौर जगत की प्रकृति से अलग स्थान रखती थी, या पहले यह कोई भेद नहीं था। इस प्रकार की बातों को वह जान सक्ता है, जो उस समय देख रहा हो, बुद्धिमान् तो सारे इस विविध रचना के पीछे हुए। इसलिये जो उस परम आकाश अर्थात्

परम प्रकृति के अन्दर इसका अध्यक्ष है वही इस बात को जानता है, जिसकी आंखों के सामने यह सब कुछ हुआ है। अध्यक्ष उसको कहते हैं, जिसकी आंख ऊपर है॥

"हे प्यारे वह जानता है, चाहे नहीं जानता" यह ऐसे अभिप्राय से कहा है, कि तुम्हें इस से क्या, क्योंकि तुम इसको जान नहीं सकोगे। इसके जानने का अधिकार तुम्हें नहीं है। यह अधिकार केवल उस ब्रह्मको है, जिसकी आंखों के सामने यह हुआ है। जब कोई अपने अधिकार से बढ़कर बात करता है, तो उस को इन्हीं शब्दों से हटाया जाता है। यहां यह बिल्कुल तात्पर्य नहीं, कि शायद वह नहीं जानता हो, क्योंकि जिस को जानने न जानने वाला बतलाया है, उसी को पहले अध्यक्ष कहा है। भला जिसकी दृष्टि उसके ऊपर है, वह कैसे नहीं जानता। इसलिये यह एक ऐसे प्रश्नों से हटाने की शैली (मुहावरः) है॥

आजकल हमारे देशवासी इसी तरह की बहुत सी आकाशी बातों के निर्धारण (हल करने) में लगे रहते हैं। ये लोग वेद के इस अभिप्राय के विरुद्ध जाते हैं, वेद का अनुशासन यह है, कि ऐसी बातों को परमात्मा पर छोड़ दो और तुम उन बातों को सीखो, जो तुम्हारी पहुंच की हैं और तुम्हारे उपयोगी हैं॥

इस सूक्त में सब से पहली अवस्था अर्थात् प्रलय और उस से पीछे फिर सृष्टि उत्पन्न होने का वर्णन आया है। और यहां परमात्मा को प्रयति (प्रयत्न शक्ति वा प्रयत्न करने वाला) कहा है॥

यह है सब से उस पहली अवस्था का वर्णन, जब ब्रह्म ने प्रकृति के अन्दर प्रयत्न किया अब दूसरी अवस्था का वर्णन

करते हैं। यह याद रखना चाहिये, कि वेद इस विषय में दूसरी जातियों के धर्म पुस्तकों से निराले हैं, उन ग्रन्थकारों ने देखा कि बादल पहले आकाश में न था, अब बन गया है, मेंह भी बरस रहा है। उन्होंने कहा, कि परमेश्वर सर्व शक्तिमान् है, वह जो कुछ चाहता है, कर लेता है। देखो पहले कुछ नहीं था, फिर बादल बन गया। इसी तरह पहले कुछ नहीं था, फिर सृष्टि बन गई। उनको यह ख्याल ही नहीं आया, कि कोई चीज़ नई नहीं उत्पन्न होती, केवल एक रूप से दूसरे रूप में बदलती है, और सूक्ष्म से स्थूल बनती है। बस उनके लिये आसान था, यह कह देना, कि पहले कुछ नहीं था, जब उसने चाहा, तो यह सब कुछ होगया। उन्होंने यह भी सोचा, कि भला परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, और वह जगत् को रचते २ बड़ी देर लगा दे, यह कैसे हो सक्ता है। बस उसने छः दिन में सब कुछ रच लिया और सातवें दिन आराम किया और जिसको इतनी देर भी परमात्मा की बड़ी शक्ति के विरुद्ध मालूम हुई, उसने कहा, कि जब उसने चाहा, उसी समय सब कुछ हो गया। तीसरी बात यह है, कि उन्होंने परमात्मा को ठीक उसी तरह समझा, जैसा कि कोई एक प्रबल (ज़बरदस्त) पुरुष हो, वा राजा हो। उसके रहने के लिये एक जगह नियत हुई और सब से ऊंची जगह पर उसका तख्त नियत हुआ। तख्त के आस पास फिरिश्तों (देवताओं) का जमघटा बना, जैसा कि उस समय राजाओं की सभा में था। वह इन फिरिश्तों को अपने राज्य में दौरा करने के लिये भेजता, और वे उसे सारी खबरें पहुंचादेते। कभी २ वह आप भी दौरे पर निकलता और

बहुत खुछ चढ़ावे और पुजावे ले लिवाकर फिर घर आ बैठता इत्यादि जो कुछ वर्णन है, वह एक ऐसे परमेश्वर का है, जो इस सृष्टि के अन्दर एक शक्ति के तौर पर नहीं, किन्तु अलग बैठ कर इस पर हकूमत कर रहा है । आजकल के विद्वानों ने ऐसे ईश्वर का नाम पर्सनलगाड (Personal God) रक्खा है और आजकल की चढ़ी चढ़ी विद्या ने इसके मानने से इन्कार करदिया है॥

वेद में ये तीनों बातें निराले तौर पर हैं । परमात्मा के साथ उसकी प्रकृति या माया है । वह इस प्रकृति से सारी रचना रचता है । वह कहीं अलग बैठा हुआ नहीं, इस सारी दुनिया के अन्दर रम रहा है। प्रकृति उसका शरीर है और वह इसका अन्तरात्मा है । जैसे मकड़ी अपने शरीर से जाला निकालती है । वह प्रकृति से जगत् को निकालता है । वह प्रकृति को हुक्म नहीं दे देता, कि तू झट पट सब कुछ बन जा, किन्तु ईश्वरीय नियमों द्वारा इसमें क्रमशः परिवर्तन करता है । और यह परिवर्तन न मालूम कितनी बड़ी देर तक रहा, पर होते होते क्रम से एक बड़ा गोला बना, उस गोले में से क्रमशः सूर्य पृथिवी आदि उत्पन्न हुए । ये उस गोले में से निकले हुए सूर्य आदि आकाश में पक्षियों की तरह उड़ते फिरते हैं, इसलिये उस गोले को अण्ड कहते हैं (देखो मनु १.९) वही ब्रह्म जो इस प्रकृति का अन्तरात्मा बन कर उस प्रकृति का नियन्ता था। वही अब इस बड़े गोले का अन्तरात्मा है और इसका नियन्ता है । अब यह उसका शरीर है और वह अन्तरात्मा है, इस शरीर में वह हिरण्यगर्भ परमेष्ठी ब्रह्मा सूत्रात्मा औरप्राणकहलाता है। यदि मनुष्य के दृष्टान्तसेइसको वर्णन करें,तो यह कहेंगे,कि यह उसने नया शरीर धारण किया है

अर्थात् जन्म लिया है । और जैसे मनुष्य शब्द केवल शरीर के लिये, केवल आत्मा के लिये, और दोनों के लिये भी आता है। अर्थात् जब हम कहते हैं मनुष्य मरने वाला है, तो हमारा तात्पर्य शरीर से है, और जब कहते हैं मनुष्य धर्म को पहचानता है, तो हमारा तात्पर्य आत्मा से है,और जब कहते हैं, कि मनुष्य देखकर चलता है, तो दोनों से तात्पर्य है, देखना आत्मा का धर्म है और चलना शरीर का है, इसी रीति पर हिरण्यगर्भ शब्द भी तीनों के लिये प्रयुक्त होता है ॥

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२१ ।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां *कस्मै देवाय हविषा विधेम† ॥ १ ॥

श—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यगर्भ (सम् । अवर्तत)प्रकट हुआ (अग्रे) पहले (भूतस्य) जो कुछ है उसका (जातः) प्रकट हुआ (पतिः) मालिक (एकः) एक (आसीत्) था (सः) उसने (दाधार) धारण किया (पृथिवीं) पृथिवी को (द्यां) द्यौ (उत) और (इमां) इस (कस्मै) किस (देवाय) देवकी, (हविषा) हवि से (विधेम) हमें पूजा करनी चाहिये ॥

हमें किस देवता की हवि के साथ पूजा करनी चाहिये?

---

* ऋचा १ = वाजसनेयी संहिता १३ । ४; २३ । १; २५ । १०; तैत्तिरीय संहिता ४ । १ । ८ । ३; ४ । २ । ८ ।२, अथर्ववेद ४। २।७॥

† इस शैली का वाक्य १० । १६८ । ४; ८ ।४८। १२ में भीहै।

(उसकी जो) हिरण्यगर्भ पहले प्रकट हुआ, जो प्रकट होतेही उस सबका जो कुछ कि है, एक पति था, उसने द्यौ और पृथिवी को धारण किया ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छाया ऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम*॥२

श—(यः) जो (आत्मऽदाः) प्राण का देने वाला (बलऽदाः) बल का देने वाला (यस्य) जिसके (विश्वे) सारे (उपऽआसते) सेवन करते हैं (प्रऽशिषं) प्रशासन (ज़बरदस्त हुक्म) को (यस्य) जिसके (देवाः) देवता (यस्य) जिसकी (छाया) छाया (अमृतं) अमृत (यस्य) जिसका (मृत्युः) मृत्यु (कस्मै ....)

अ—हमें किस देव की हवि के साथ पूजा करनी चाहिये? जो प्राण का देने वाला और बल का देने वाला है, सारे जिस के शासन को मानते हैं† देवता (भी) जिस के शासन को मानते हैं। जिसकी छाया अमृत है और मृत्यु जिसका है॥२॥

'यस्य....देवाः' इसमें 'विश्वे'को 'देवाः' का विशेषण मान कर यह अर्थ भी कई टीकाकारों ने किया है, कि सारे देवता जिसके शासन को मानते हैं इस अर्थ में एक 'यस्य' पद विना अर्थ के रह जाता है ॥

मृत्यु जिसका है अर्थात् वह मृत्यु का मालिक है मृत्यु

---

* ऋचा २ = वाज०सं० २५.१३; तै०सं० ४।१।८।४; ७.५।१७। १, अथर्व० ४'२।१; १३ ३ २४

† देखो बृह०उप० ३।९॥

उसके भय से दौड़ता है। कठ० ६। ३। और जिस लिये मृत्यु उसकी आज्ञा में है, इसी लिये उसकी छाया अमृत है। अथवा जिसकी छाया अमृत है और जिस की छाया मृत्यु है। जैसे छाया मनुष्य के साथ रहती है, मनुष्य के आधीन है, इसी प्रकार मृत्यु और अमृत उसके अधीन हैं, सायण का इस मन्त्र की व्याख्या में यही आशय है और इस आशय को उसने तै० सं० ४। १। ८। ४ की व्याख्या में इस प्रकार स्पष्ट किया है "प्रजापतेः छायावत् स्वाधीनममृतं मोक्षरूपं मृत्युः प्राणिनां मरणमपि" अमृत अर्थात् मोक्ष, छाया की न्याईं प्रजापति के स्वाधीन है और इसी प्रकार मृत्यु अर्थात् प्राणियों का मरना भी" महीधर ने वाजसनेयि संहिता (२५। १३) की व्याख्या में इस तरह लिखा है "जिस की छाया = आश्रय अर्थात् जानकर उपासना करना अमृत है अर्थात् मुक्ति का कारण है और जिसका न जानना मृत्यु अर्थात् संसार का हेतु है॥

यः प्राणतो निमिषतो* महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम† ॥ ३ ॥

---

* वाज० सं० २३। ३ में महीधर ने 'निमेषतो' पाठ मान कर उसकी व्याख्या की है। पर यह पाठ अशुद्ध है 'निमिषतो' ही ठीक है॥

† ऋचा ३ = वा०सं० २३। ३; २५। ११; तै० सं० ४। १। ८। ४; ७। ५। १६। १ अथर्व० ४। २। २॥

प—(यः) जो (प्राणतः) सांस लेते हुए (निऽमिषतः) आंख झपकते हुए (जगतः) जगत का (महिऽत्वा†) महिमा से = शक्ति से (एकः) एक (इव) ही (राजा) मालिक (बभूव) हो गया (यः) जो (ईशे) ईशन करता है = हकूमत करता है (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाओं वाले = मनुष्य की (चतुष्पदः) चार पाओं वाले = पशु की (कस्मै....)

अ—हमें किस देवता की हवि के साथ पूजा करनी चाहिये? उसकी जो सांस लेते हुए और आंख झपकते हुए जगत् का अकेला ही अपनी शक्ति से मालिक होगया और जो इस समस्त मनुष्य और पशु पर हकूमत करता है॥ ३॥

'निमिषतः' निऽमिष्—आंख झपकना और सोना इन दोनों अर्थों में आता है। यहां दोनों अर्थ बन सक्ते हैं, जो सांस लेते हुए और आंख झपकते हुए जगत् का अर्थात् इस जीवित जाग्रत जगत् का अथवा जो सांस लेते हुए और सोते हुए जगत् का अर्थात् जड़ और चेतन का। ऋग्वेद १०।१९०।२ में "विश्वस्य मिषतो वशी" का अर्थ है, उस सबको वश में रखने वाला जो आंख झपकता है अर्थात् जीवित है। सायण ने (ऋग् १०। १२१।३; तै० सं० ४।१।८।४; में) और महीधर ने वाज०सं०२३। ३। में निमिषितः का अर्थ 'आंख झपकते हुए' ही किया है। पीटरसनने 'सांस लेते हुए और सोए हुए जगत् का' यह अर्थ लिखकर नोट दिया है, कि पहिले विशेषण द्वारा जड़ से भेद किया है क्योंकि जड़ सांस नहीं रखते और दूसरे विशेषण से देवताओं से भेद किया है, जो सोते नहीं हैं। 'सोए हुए' इस

† 'महित्वा' यह वैदिक तृतीया है, जैसा अगले मंत्र में भी है

से 'पृथिवी को द्यौ लोक से अलग किया गया है, जहां के रहने वाले न ऊंघते हैं, न सोते हैं' पर मैक्समूलर का नोट पीटरसन के इस विचार को काटता है—

The later idea that the gods do not wink, has nothing to do with our passage.

पिछला ख्याल कि देवता आंख नहीं झपकते, उसका इस वचन से कोई सम्बन्ध नहीं ॥

'जगतः' विशेषण भी हो सक्ता है अर्थात् जो सांस लेते हुए, सोए हुए और चलते हुए का राजा हो गया॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥ *

प—(यस्य) जिसकी (इमे) ये (हिमऽवन्तः†) बर्फ वाले (महिऽत्वा) महिमा से (यस्य) जिसका (समुद्रं) समुद्र को (रसया। सह) नदी के साथ (आहुः) कहते हैं (यस्य) जिसके (इमाः) ये (प्रऽदिशः) प्रदेश (यस्य) जिसकी (बाहू)दोनों भुजाएं॥

अ—हमें किस देवता की हवि के साथ पूजा करनी चाहिये? ये वर्फानी पर्वत जिसकी शक्ति से हैं, मीठी नदी के साथ

* ऋचा ४ = वाज०सं० २५।१२; तै० सं० ४।१।८।४ अथर्व० ४।२।५॥

† वर्फानी पहाड़ होने से हिमवान् हिमालय का नाम है। पर यहां हिमालय अभिप्रेत नहीं, हर एक वर्फानी पहाड़ से अभिप्राय है। 'हिमवन्तः' बहु वचन है॥

समुद्र को जिसका कहते हैं। जिसके ये प्रदेश हैं और दोनों भुजाएं जिसकी हैं ॥ ४ ॥

दोनों भुजाएं जिसकी हैं, अर्थात् जो हमारी दोनों भुजाओं का मालिकहै। यह ऋचा एक धर्मात्मा शूरवीरके मुखमें बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है, जो यह देखता है, कि ये वर्फानी पहाड़, समुद्र और नदियें उसकी गति को नहीं रोक सक्तीं, क्योंकि यह सब जिसकी महिमा से हैं वही इन दोनों भुजाओं का मालिक है, जिन के बल से वह इन सब को अधीन करता है ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम*॥५॥

प—(येन) जिसने (द्यौः) द्यौ (उग्रा) उग्र (पृथिवी) पृथिवी (च) और (दृढा) दृढ (येन) जिसने (स्वः) स्वर् (स्तभितं) थामा है (येन) जिसने (नाकः) नाक (यः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (रजसः) वायु का (विऽमानः) मापने वाला ॥

अ—जिस ने उग्र द्यौ और पृथिवी को दृढ़ किया है, जिस ने स्वर्को थामाहै, और जिसने नाक को थामा है जो अन्तरिक्ष में वायु का मापने वाला है ॥ ५ ॥

उग्र भयानक, तेजस्वी, जिसका तेज दूसरोंको मात करताहै॥

---

* ऋचा ५ = वाज० सं० ३२। ६; तै० सं० ४। १। ८। ५; अथर्व० ४। २। ४।

स्वर्, और नाक, इन दोनों लोकों का निर्धारण करना कठिन है। प्रायः ये दोनों द्यौ से ऊपर के लोक हैं; स्वर् = स्वर्ग और नाक = आदित्य = सूर्य (सायण) स्वर् = सूर्य और नाक = स्वर्ग (महीधर)

यो अन्तरिक्षे रजसोविमानः = जो आकाशमें पानी (वृष्टि) का बनाने वाला है (सायण, महीधर)

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यै-क्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम*॥६॥

प—(यं) जिसको (क्रन्दसी) द्यौ और पृथिवी (अवसा) रक्षा से (तस्तभाने) दृढ़ ठहरे हुए (अभिऽऐक्षेतां) देखते हैं (मनसा) मन से (रेजमाने) कांपते हुए (यत्र। अधि) जिसके अधीन (सूरः) सूर्य (उत्। इतः) उदय हुआ (विऽभाति) चमकता है॥

अ—हमें किस देव की हवि के साथ पूजा करनी चाहिये? जिसकी रक्षा से दृढ़ थामे हुए द्यौ और पृथिवी मन में कांपते हुए जिसकी तरफ देखते हैं और जिसके अधीन सूर्य्य उदय होकर चमकता है॥

"उदितो विभाति" की जगह तै० सं० ४।१।८।५; में "उदितौ व्येति" पाठहै अर्थात् उदय के विषयमें अनेक प्रकार से प्राप्त होता है॥

---

* ऋचा ६ = वाज० सं० ३२।७; तै० सं० ४।१।८।५; अथर्व ४।२।३॥

आपो ह यद्बृहतीर्विश्व मायन् गर्भं दधाना जनयन्ती रग्निम्। ततो देवानां स मवर्ततासुरेकःकस्मै देवायहविषा विधेम* ७

प—(आपः) जल = सूक्ष्म सृष्टि† (यत्) जब (बृहतीः) बड़े (विश्वं) सारे पर (आयन्) पहुंचे (गर्भं‡) गर्भ को (दधानाः) धारण करते हुए (जनयन्तीः) उत्पन्न करते हुए (अग्नि) अग्नि-प्रकाश और गर्मी को (ततः) तब (देवानां) सारे देवताओं का (सं । अवर्तत) प्रकट हुआ (असुः) प्राण (एकः§) एक (कस्मै....)

अ—हमें किस देव की हवि के साथ पूजा करनी चाहिये? जब बड़े जल गर्भ को धारण करते हुए और अग्नि को उत्पन्न करते हुए सारे छागए, तब (उनसे) वह प्रकट हुआ, जो सारे देवताओं का एक प्राण है ॥ ७ ॥

अर्थात् यह सब कुछ जो अब यहां है अभी प्रकट नहीं हुआ था, किन्तु अभी सूक्ष्म सृष्टि के गर्भ में था, वह सूक्ष्म सृष्टि जब सारे छा गई और उसकी लगातार क्रिया से उसमें से अग्नि प्रकट हुआ। उससे पीछे वह आत्मा (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ जो सारे देवताओं का एक मात्र जीवन है ॥

---

* ऋचा ७ = वाज० सं० २७। २५; ३२।७; तै० सं० २।२।१२।१; ४ १।८।५ तै०आ० १।२३।८ अथर्व ४।२।६ ॥

† देखो शतपथ ११।१।६।१ ॥

‡ गर्भ से हिरण्यगर्भ अर्थ भी यहां संगत है ॥

§ मैत्रायणी संहिता में 'एकः' पद नहीं है ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् । यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम*॥८॥

प—(यः) जो (चित्†) भी = और (आपः) जलों को = सूक्ष्म सृष्टि को (महिना) शक्ति से (परि। अपश्यत्) ऊपर से देख रहा था (दक्षं) बल को = फुरती को (दधनाः) धारण करते हुए (जनयन्तीः) उत्पन्न करते हुए (यज्ञं) यज्ञ को (यः) जो (देवेषु । अधि) देवताओं के ऊपर (देवः) देव (एकः) एक (आसीत्) था (कस्मै....)

अ—हमें किस देव की हवि के साथ पूजा करनीचाहिये? जो अपनी महिमा से जलों के ऊपर देख रहा था, जब कि वे बल को धारण करते हुए यज्ञ को उत्पन्न कर रहे थे। और जो सारे देवताओं के ऊपर एक देव है ॥ ८ ॥

बल को धारण करते हुए यज्ञ को उत्पन्न कर रहे थे = जब यह सूक्ष्म सृष्टि पूरे ज़ोर में एक नई रचना में प्रवृत्त थी ॥

---

* ऋचा ८ = वाज०सं०२७।२६; ३२।७; तै०सं० ४।१।८।६ अथर्व में यह ऋचा नहीं है ॥

† 'चित्, ऋग्वेद में यह पद बहुत बार आया है, यह प्रायः 'भी' के अर्थ में आता है। यहां भी हमने वही प्रसिद्ध अर्थ लिया है। पर यहां 'चित्, का अर्थ चेतन भी बड़ा संगत प्रतीत होता है, क्योंकि देखना चेतन का धर्म है। सच्चिदानंद में चित् पद चेतन के अर्थ में प्रसिद्ध है। चित्, धातु भी इसी अर्थ में ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त है, तथापि यह पद ऋग्वेद में और कहीं इस अर्थ में आया है, यह अन्वेषणीय है ॥

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान । यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम*॥९

प—(मा) मत (नः) हमें (हिंसीव) क्लेश दे (जनिता) उत्पन्न करने वाला (यः) जो (पृथिव्याः) पृथिवी का (यः) जो (वा) या = और (दिवं) द्यौ को (सत्यऽधर्मा) सच्चे धर्मों वाला = अटल नियमों वाला (जजान) उत्पन्न करता हुआ (यः) जो (च) और (आपः) जल (चन्द्राः†) चमकते हुए (बृहतीः) बड़े (जजान) उत्पन्न करता हुआ (कस्मै....)

अ—हमें किस देवकी हवि के साथ पूजा करनी चाहिये? जो पृथिवी का उत्पन्न करनेवाला है और जिस अटल नियमों वाले ने द्यौ को उत्पन्न किया है और जिसने चमकते हुए बड़े जलों (अग्नि को उत्पन्न करती हुई सूक्ष्म सृष्टि) को उत्पन्न किया है, वह हमें कभी क्लेश न दे ॥ ९ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्‡॥ १० ॥

प—(प्रजापते) हे प्रजा के मालिक (न) नहीं (त्वत्)

---

* ऋचा ९ = वाज०सं० १२ । १०२ तै०सं०४·२।७'१ ॥

† आपश्चन्द्राः = मनुष्य (शतपथ ७ । ३ । १ । २०)

‡ ऋचा १० = वाज०सं० १०।२०; २३।६५; तै०सं० १।८।१४। २; ३।२।५।६; तै०ब्रा० २।८।१।२; ३।५।७।१ अथर्व ७।७९।४; ७।८०।३

तुझ से (एतानि) इन को (अन्यः) भिन्न (विश्वा) सारे (जातानि) उत्पन्न हुई वस्तुओं को (ता) उनको (परि। बभूव) घेरे हुए है (यत्ऽकामाः) जिस कामना वाले (ते) तेरे लिये (जुहुमः) हम होम करते हैं (तत्) वह (नः) हमारा (अस्तु) हो (वयं) हम (स्याम) होवें (पतयः) मालिक (रयीणां) धनों के = खज़ानों के ॥

अ—हे प्रजापते ! तेरे विना और कोई इन उत्पन्न हुई सारी वस्तुओं को घेरे हुए नहीं है (इन पर हकूमत नहीं कर रहा है) हम जिस फल की कामना से तेरे लिये होम करते हैं, वह हमारा हो । और हम खज़ानों के मालिक बनें ॥ १० ॥

यह दूसरी अवस्था का वर्णन समाप्त हुआ । अब इस से आगे तीसरी अवस्था का वर्णन करते हैं । यह दूसरी अवस्था धीरे २ बदल कर इस तीसरी अवस्था में पहुंची, जैसी कि अब यह भिन्न२ रचना दीखती है । इस अवस्था में हम देखते हैं, कि परमात्मा इस सारे सौर जगत् का अन्तरात्मा होकर इस में काम कर रहा है, और यह जगत् उसका शरीर है । इस सारे ब्रह्मांड को चलाने वाला और नियम में रखने वाला केवल एक परमात्मा है, जो आत्मा की जगह इस में काम करता है । अत एव वह उस से इस प्रकार अलग है, जिस प्रकार शरीर से जीवात्मा। हां जिस प्रकार मनुष्य का वर्णन करते हुए किसी जगह केवल जीवात्मा का वर्णन होता है और किसी जगह शरीर और किसी जगह दोनों का । इसी प्रकार इस सूक्त में किसी जगह तो परमात्मा का अलग वर्णन है, किसी जगह उसके शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड का है और किसी जगह इन दोनों का ॥

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९०* ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥१॥

प—(सहस्रऽशीर्षा) हज़ारों सिरों वाला (पुरुषः) पुरुष (सहस्रऽअक्षः) हजारों आंखों वाला (सहस्रऽपात) हज़ारों पाओं वाला (सः) वह (भूमिं †) त्रिलोकी = ब्रह्माण्ड को (विश्वतः) सब ओर से (वृत्वा) घेर कर (अति । अतिष्ठत) बढ़कर ठहरा (दशऽअंगुलं) दस अंगुल ॥

अ—वह पुरुष असंख्यात सिरों असंख्यात आंखों और असंख्यात पाओं वाला है, वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेरकर आप फिर भी दस अंगुल उस से परे है ॥ १ ॥

ब्रह्म इस सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक है, यह ब्रह्माण्ड उसका शरीर है । और इस ब्रह्माण्ड के अवयव उस के शरीर के अवयव हैं । जैसे द्यौ सिर है सूर्य आंख है और पृथिवी पाओं है । जैसा आगे (१३ । १४ मन्त्र में) कहेंगे । और इसी लिये इसको पुरुष कहते हैं । उस ब्रह्मकी सृष्टि में असंख्यात द्यौ और असं-

---

* यह सूक्त अथर्व १९।६ में है । पर मन्त्रोंका क्रम इससे भिन्न है, और यहां का १६वां मन्त्र यद्यपि अथर्व में अन्यत्र पाया जाता है, पर पुरुष सूक्त में इस की जगह एक और मन्त्र है, वाजसनेयि संहिता के ३१ वें अध्याय के २२ मन्त्रों में पहले १६ मंत्र ये हैं ॥

† ऋग्वेद में पृथिवी और उसके पर्याय-वाचक शब्द भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों के लिये आते हैं (देखो ऋग् १ १०८।९—१०; १.१०२।८ ॥

ख्यात पृथिवियां है, इसीलिये कहा है, हज़ारों सिर और हज़ारों पाओं वाला है, यहां सहस्र शब्द असंख्यात के अभिप्राय में है।

दस अंगुल बढ़कर ठहरा,इसका अभिप्राय यही है, कि वह इस ब्रह्माण्डको घेरकर भी इस से परे है। जैसे यह एक शैली है, कि वह इससे बालिश्त भर बढ़कर है। इसी प्रकार यह शैली है कि वह दशांगुल परे है। अंगुलियों से मापा जाता है और अंगुलियां दसहैं। इसलिये दशांगुल बढ़करहै, यह इस अभिप्राय में बोला जाता है, कि वह वस्तु उस माप से बढ़कर है। दशांगुल शब्द ऋग्वेद में एक ही वार आया है। कई एक टीकाकारों ने दशांगुल को हृदय मानकर यह अर्थ किया है, कि वह इस ब्रह्माण्ड को व्याप कर हृदय में ठहरा है अर्थात् यद्यपि वह सारे परिपूर्ण है, पर उसका दर्शन हृदय में होता है, जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब तो सब जगह पड़ताहै, पर दिखलाई पानी में ही देताहै॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।२

प—(पुरुषः) पुरुष (एव) ही (इदं) यह (सर्वं) सारा (यत्) जो (भूतं) हुआ (यत्) जो (च) और (भव्यं) होगा (उत) भी (अमृतऽत्वस्य) अमृतत्व = मोक्ष का (ईशानः) हकूमत करने वाला = मालिक (यत्) जो (अन्नेन) अन्न से (अतिऽरोहति) बढ़ता है ॥

अ—पुरुष ही यह सब कुछ है, जो हुआ है और जो होगा (और वही) अमृतत्व का भी मालिक है (और उसका भी मालिक है) जो अन्न से बढ़ता है ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डरूपी शरीर से उसको शरीरी ठहराया है, इसीलिये कहा है, जो हुआ और होगा, वह पुरुष ही है ॥ जो अन्न से बढ़ता है = संसार में भोग भोग रहा है। मुक्ति का मालिक भी पुरुष है और संसार का मालिक भी पुरुष है। मुक्तात्मा इसके ईशन में मृत्यु से पार होता है और संसारी जीव इसके शासन में सांसारिक भोग भोगते हैं ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ३

प—(एतावान्) इतनी (अस्य) इसकी (महिमा) महिमा (अतः) इससे (ज्यायान्) बढ़कर (च) और (पूरुषः) पुरुष (पादः) पाओं (अस्य) इसका (विश्वा) सारे (भूतानि) भूत = उत्पत्ति वाली वस्तु (त्रिपाद्) तीन पाओं (अस्य) इसका (अमृतं) अमृत (दिवि) द्यौ में = प्रकाश में ॥

अ—यह सब उसकी महिमा है और वह पुरुष इससे बड़ा है। यह सारे भूत उसका एक पाद हैं और उसके तीन अविनाशि पाद अपने प्रकाश में है ॥ ३ ॥

अभिप्राय यह है, कि इस ब्रह्मांड को देखकर मनुष्य उसके महत्त्व को बहुत कुछ समझ सक्ता है, परन्तु परमेश्वर के स्वरूप का यह ज्ञान बहुत थोड़ा है, क्योंकि उस का स्वरूप इस से बहुत बढ़कर है ॥

ब्रह्म का कोई परिमाण नहीं है, इसलिये 'ये सारे भूत उस के एक चौथे पाद में है, इसका अभिप्राय यही है, कि यह जगत् ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षा बहुत थोड़ा है । इसी अभिप्राय से

अथर्व १०।८।७, १.३ में कहा है "अर्धेन विश्वं भुवनं जजान" आधे से उसने सारे भुवन को उत्पन्न किया है ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः ।
ततोविष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

प—(त्रिऽपात्) तीन पाद वाला (ऊर्ध्वः) ऊपर (उत् । ऐत्) उदय हुआ (पुरुषः) पुरुष (पादः) पाद (अस्य) इसका (इह) यहां (अभवत्) विद्यमान हुआ (पुनः) फिर (ततः) तब (विष्वङ्) सब ओर (वि । अक्रामत्) व्याप्त हुआ (साशनऽ अनशने) खाने वाले और न खाने वाले के (अभि) ऊपर ॥

तीन पाद वाला वह पुरुष ऊपर उदय हुआ =(ब्रह्मांड से ऊपर रहा)और इसका एक पाद फिर यहां आविद्यमान हुआ* तब वह सब ओर सारे जड़ चेतन पर व्याप गया ॥ ४ ॥

तस्मा द्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातोअत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथोपुरः ॥५॥

प—(तस्मात्) उससे (विराट्) विराट्=समष्टि ब्रह्मांड (अजायत) उत्पन्न हुआ (विराजः) विराट् से (अधि) ऊपर (पूरुषः) पुरुष (सः) वह (जातः) प्रकट हुआ (अति । अरि- च्यत) बढ़कर रहा = फैल गया (पश्चात्) पीछे (भूमिं) ब्रह्माण्ड के (अथो) और (पुरः) आगे ॥

अ—उस से विराट् (समष्टि ब्रह्माण्ड)उत्पन्न हुआ । विराट्

---

* मैं इस सारे जगत् को एक अंश से थाम कर स्थित हूं (गीता १० । ४२)

से वह पुरुष प्रकट हुआ और प्रकट होते ही ब्रह्माण्ड के वार पार फैल गया ॥ ५ ॥

अभिप्राय यह है, कि यह विराट् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। और यह उस ब्रह्म को प्रकाशित (प्रकट) करता है ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत ।
वसन्तोअस्यासीदाज्यंग्रीष्मइध्मःशरद्धविः६

प—(यत्) जब (पुरुषेण) पुरुष से = विराट् से (हविषा) हवि से (देवाः) देवताओं ने (यज्ञं) यज्ञ (अतन्वत) फैलाया (वसन्तः) वसन्त (अस्य) इसका (आसीत्) था (आज्यं) घी (ग्रीष्मः) ग्रीष्म = जेठ, आसाढ़ (इध्मः) इन्धन (शरत्) शरत् ऋतु = असूज, कातिक (हविः) हवि = पुरोड़ाश ॥

अ—जब इस पुरुष रूप हवि से देवताओं ने यज्ञ फैलाया तब वसन्त इस (यज्ञ) का घी शरत् हवि और ग्रीष्म इन्धन था ॥

उत्तम प्रजा का होना यज्ञ का फल है। इसी हेतु वेद में सृष्टि की उत्पत्ति के लिये सूर्यादि देवताओं ने यज्ञ रचा, उस यज्ञ में वसन्त घी था क्योंकि वसन्त में नया रस प्रकट होता है और शरत में नया अन्न उत्पन्न होता है इसलिये शरत्को हवि कहाहै

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषंजातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये ॥७॥

प—(तं) उस (यज्ञं) यज्ञ को (बर्हिषि) आकाश में (प्रौक्षन्) प्रोक्षण करते हुए = छिड़कते हुए (पुरुषं) पुरुष को (जातं) उत्पन्न हुए (अग्रतः) पहले (तेन) उस से (देवाः)

देवताओं ने (अयजन्त) यज्ञ किया (साध्याः) साध्यों ने (ऋषयः) ऋषियों ने (च) और (ये) जो॥

पहिले उत्पन्न हुए यज्ञ (के साधन) उस पुरुष (विराट्) को आकाशमें प्रोक्षण किया और उस से साध्य देवताओं और ऋषियों ने यज्ञ किया॥ ७॥

सृष्टि के उत्पन्न करनेवालों में देव और ऋषियों का नाम अन्यत्र भी पाया जाता है। ये कोई प्राकृत शक्तियां हैं, इन के निर्धारण करने के लिये अभी और अन्वेषण करने की आवश्यकता है

'बर्हिस्' कुशा का नाम है और आकाश का नाम भी है। कुशा यज्ञिय द्रव्यों में है, विशेष करके प्रोक्षण में इसका उपयोग है। यहां स्वाभाविक यज्ञ का वर्णन है, जिसका वसन्त आज्य, शरद् हवि और ग्रीष्म इन्धन है। उस यज्ञ का प्रोक्षण अन्तरिक्ष में वृष्टि द्वारा बन सकता है। और अथर्ववेद के पाठ से भी यही आशय प्रतीत होता है, वहां यह पाठ है "तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन्" "उस यज्ञ को बरसात से प्रोक्षण किया" इस लिये हमने यहां बर्हिस् शब्द का अर्थ आकाश लिया है अर्थात् पृथिवी आदि की उत्पत्ति के पीछे जब पृथिवी पर वसन्त, ग्रीष्म, शरद् और वर्षा ऋतुएं अपने २ समय पर प्रवृत्त होने लगीं और अपने २ समय की ओषधि और वनस्पतियां विराट् देह से उत्पन्न हुईं, और यह उत्पत्तियज्ञ लगातार रहा, तब इस से फिर पशु आदि की सृष्टि हुई॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ८

प- (तस्मात्) उस (यज्ञात्) यज्ञ से (सर्वऽहुतः) जिस में सब ने होम किया (समृऽभृतं) इकट्ठा किया गया (पृषदृऽ आज्यं) दही और घी (पशून्) पशुओं को। (तान्) उन (चक्रे) उत्पन्न किया (वायव्यान्) जो वायु के आश्रय हैं = पंछी (आरण्यान्) जंगली। ग्राम्यान् = ग्राम के अर्थात् पालतू (च) और (ये) जो॥

अ—उस यज्ञ से जिसमें सबने हवन किया दही और घी इकट्ठा किया गया और (उस से उन्हों ने) उन पशुओं को उत्पन्न किया जो जंगली हैं और घरालू हैं और हवा के पंछियों को॥८॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसिजज्ञिरेतस्माद्यजुस्तस्मादजायत।९

प—(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः) उस सर्वहुत् यज्ञ से (ऋचः) ऋचाएं (सामानि) साम (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। (छन्दांसि) छन्द। (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। (तस्मात्) उस से (तस्मात्) उस से (यजुः) यजु (अजायत) उत्पन्न हुआ॥

अ—उस यज्ञ से जिसमें सबने हवन किया ऋचाएं और साम उत्पन्न हुए उस से छन्द उत्पन्न हुए उस से यजु उत्पन्न हुआ॥९॥

ऋचा यजु और साम ये तीनों मन्त्रों के भेद हैं। जो मन्त्र पद्यमय हैं वे ऋचा, जो गद्यमय हैं वे यजु और जो गाये जाते हैं वे साम कहलाते हैं। यहां ऋचा से ऋग्वेद और साम से सामवेद अभिप्रेत नहीं किन्तु उक्त प्रकार के मन्त्र ही अभिप्रेत हैं इसी लिये 'ऋचःसामानि' बहुवचन हैं। चारों वेदों में ये तीनों ही प्रकार के मन्त्र हैं। अथर्ववेद के मन्त्र भी इन्हीं तीन प्रकार के मन्त्रों

में से हैं। इस पर अधिक विचार वेदोत्पत्तिविषय में लिखेंगे ॥

तस्मादश्वा अजायन्त येके चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।

प—(तस्मात्) उस से (अश्वाः) घोड़े (अजायन्त) उत्पन्न हुए । (ये) जो (के । च) कोई । (उभयादतः) दोनों ओर दान्तों वाले (गावः) गौएं । (जज्ञिरे) उत्पन्न हुईं (तस्मात्) उस से (तस्मात्) उस से (जाता) उत्पन्न हुईं (अजाऽअवयः) बकरी भेड़ ॥

अ—उस से घोड़े और दोनों ओर के दांतों वाले उत्पन्न हुए । उससे गौएं उत्पन्न हुईं और उस से भेड़ बकरियें उत्पन्न हुईं।१०।

इन मन्त्रों में उत्पत्तिक्रम वर्णन करने का अभिप्राय नहीं किन्तु स्वाभाविक यज्ञ के द्वारा पहले उन पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है जो यज्ञ के लिये आवश्यक हैं और फिर मनुष्य के उपयोगी वस्तुओं का वर्णन है ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यकौ बाहूकाऊरूपादा उच्येते ११

प—(यत्) जब (पुरुषं) पुरुष = विराट् पुरुष को (वि। अदधुः) उन्होंने विभक्त किया (कतिधा) कितने प्रकार से (वि । अकल्पयन्) उन्होंने कल्पना किया (मुखं) मुख (किं) कौन (अस्य) इसका (कौ) कौन (बाहू) दोनों भुजाएं (कौ) कौन (ऊरू) दोनों रानें (पादौ) दोनों पाओं (उच्येते) कहलाते हैं ॥

अ—जब विराट् पुरुष को विभक्त किया गया, तो कितने

प्रकार से उसकी कल्पना की गई ? कौन इसका मुख था कौन भुजाएं कौन रानें और कौन पाओं कहलाते हैं ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरूतदस्ययद्वैश्यःपद्भ्यांशूद्रोअजायत। १२

प—(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इसका (मुखं) मुख (आसीत्) था (बाहू) दोनों भुजाएं (राजन्यः) क्षत्रिय (कृतः) बनाया गया (ऊरू) दोनों रानें (तत्) वह वस्तु (यत्) जो वस्तु (वैश्यः) वैश्य (पद्भ्यां) पाओं से (शूद्रः) शूद्र (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥

अ—ब्राह्मण इसका मुख था, भुजाएं क्षत्रिय, रानें वैश्य और शूद्र पाओं से उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥

सारे ज्ञानेन्द्रिय सिर में है और मस्तिष्क (दिमाग) ही सारे शरीर का नेता है और धर्म और विद्या सिखलाना जो वाणी का धर्म है वह वाणी भी मुख में हैं । इसलिये ब्राह्मण को मुख कहा है, ज्ञान और धर्म के लाभ करने में तत्पर रहना और दूसरों को विद्या और धर्म सिखलाना यह उसका अधिकार है। क्षत्रिय भुजाएं हैं । रक्षा करना और हकूमत करना यह उनका अधिकार है। वैश्य रानें हैं । वाणिज्य और खेती कर के देश की दौलत को बढ़ाना यह उनका अधिकार है, पाओं से शूद्र हैं, ऊपरले तीनों वर्णों को अपने २ कामों में सेवन करना उनका धर्म है ॥

चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्योअजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।१३

प—(चन्द्रमाः) चन्द्रमा (मनसः) मन से (जातः) उत्पन्न हुआ (चक्षोः) नेत्र से (सूर्यः) सूर्य (अजायत) उत्पन्न हुआ (मुखात्) मुख से (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (अग्निः) आग (च) और (प्राणात्) श्वास से (वायुः) वायु (अजायत) उत्पन्न हुआ

अ—मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ मुख से इन्द्र(बिजली)और अग्नि और श्वास से वायु उत्पन्न हुआ। १३

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्

प—(नाभ्याः) नाभि से (आसीत्) हुआ (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (शीर्ष्णः) सिर से (द्यौः) द्यौ (समवर्तत) उत्पन्न हुआ (पद्भ्यां) पाओं से (भूमिः) पृथिवी(दिशः) दिशाएं (श्रोत्रात्) कान से (तथा) इस प्रकार (लोकान्)लोकों को (अकल्पयन्) उन्होंने कल्पना किया ॥

अ—उसकी नाभि से अन्तरिक्ष हुआ सिर से द्यौ उत्पन्न हुआ, पाओं से भूमि और श्रोत्र से दिशाएं, इस प्रकार लोकों को कल्पना किया ॥ १४ ॥

पहले जिस प्रकार मनुष्यों के विभाग में विराट् के अंगों की कल्पना की गई है, इसी प्रकार लोकों के विभाग में भी उस के अंगों की कल्पना की गई है, कि पृथिवी पाओं, अन्तरिक्ष नाभि और द्यौ सिर है। इसी प्रकार सूर्य आदि देवता उसके अंग हैं। यह विराट् का वर्णन है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में स्थूल सूक्ष्म और प्रकृति का नियन्ता परमात्मा को दिखलाया है। और उसके दर्शन का क्रम यह है, कि जिज्ञासु पहले स्थूलमें फिर सूक्ष्म में और फिर प्रकृति में उसके दर्शन करता है। संहिता में

इसी क्रम से ये सूक्त आए हैं। ऊपर के सूक्तों में हम प्रत्येक स्थल में परमात्मा को इस सारी सृष्टि का स्रष्टा पाते हैं, और हम देखते हैं, कि उसे इस विचित्र रचना के लिये किसी साधन और किसी सहायक की अपेक्षा नहीं। वह हमारा पिता है और उसने इस ब्रह्माण्ड को हमारे लिये घर बनाया है, जैसा कि पिता पुत्र के लिये बनाता है। पर उस ने राजकी नांई बैठने की अलग जगह नहीं ढूंढी, और न ही किसी दूरके जंगलसे लकड़ी मंगवाई है किन्तु जिस दीवार को उठाया, उसके अन्दर बैठकर उठाया और जिस लकड़ी को छीलकर यह भुवन तय्यार किया, वह उसके साथ उसकी प्रकृति थी। उस एक के अन्दर ही सारी शक्तियां हैं, वह अकेला सब कुछ बनाता है, इसलिये उसको विश्वकर्मा कहा है। इसका वर्णन इस प्रकार है—

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८१।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविण मिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥१॥

प—(यः) जो (इमा) इन (विश्वा) सारे (भुवनानि) भुवनों को (जुह्वत्) होम करता हुआ (ऋषिः। होता) ऋषि हवन करने वाला (नि। असीदत्) बैठा (पिता) पिता (नः) हमारा (सः) वह (आशिषा) इच्छा से (द्रविणं) धन को (इच्छमानः) चाहता हुआ (प्रथमऽच्छत्) पहला ढांपने वाला (अवरान्) छोटों में (आ। विवेश) प्रविष्ट हुआ ॥

अ—जो हमारा पिता इन सारे भुवनों को होम करता हुआ

होम करने वाला ऋषि (बन कर बैठा)। वह इच्छासे धन(ब्रह्माण्ड) कोचाहता हुआ,वह पहला ढांपने वाला छोटों में प्रविष्टहुआ ॥ १ ॥

अभिप्राय यह है, कि वह प्रलय के समय होता बन कर इन सारे भुवनों को होम कर देता है। और इस यज्ञ में वह फल चाहता है कि यह धन(ब्रह्माण्ड)उसको फिर मिले। इस लिये वह फिर इन भूत भौतिक को उत्पन्न कर उसमें प्रविष्ट होताहै। यज्ञ का जो फल है उसको धन (खजाना) कहा है (देखो १.० । ४९ । ११, १.० । ४६ । २) इसलिये यहां भी विश्वकर्मा के यज्ञ का फल यह ब्रह्माण्डरूप धन है, जिस धन का वह प्रलय के पीछे फिर मालिक बना। यहां पहले भुवन का प्रलय और प्रलय के पीछे फिर उत्पत्ति कहने से यह सिद्ध किया है,कि यह प्रवाह से अनादि है॥

प्रथमच्छद् ऋग्वेद में और कहीं नहीं आया। इस चाल का शब्द 'कविछद्' ३ । १२ । ३ में इन्द्राग्नि का विशेषण है ॥

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्। यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥२॥

प—(किम्। स्वित्) क्या (आसीत्) था (अधिऽस्थानं) ठहरने की जगह (आरम्भणं) सहारा (कतमत्। स्वित्) कौन सा (कथा) किस प्रकार (आसीत्) था (यतः)जिस से (भूमिं। पृथिवी को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (विश्वऽकर्मा) विश्व कर्मा ने (द्यां) द्यौ को (वि। और्णोत्) खोला (महिना) शक्ति से (विश्वऽचक्षाः) सब के देखने वाले ॥

अ—अधिष्ठान क्या था (अर्थात् कोई नहीं) कौन

सा सहारा था और किस प्रकार था, जिस से, सबके देखने वाले विश्वकर्मा ने पृथिवी को उत्पन्न किया और द्यौ को खोला। २।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥३॥

प—(विश्वतःऽचक्षुः) सब ओर आंखों वाला (उत) और (विश्वतःऽमुखः) सब ओर मुख वाला (विश्वतःऽबाहुः) सब ओर भुजाओं वाला (उत) और (विश्वतः ऽपात्) सब ओर पाओं वाला (बाहुभ्यां) दोनों भुजाओं से (सम्। धमति) धौंकता है (पतत्रैः) पंखों से (द्यावाभूमी) द्यौ और पृथिवी को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (देवः) देव (एकः) एक ॥

अ—सब ओर नेत्रों वाला और सब ओर मुख वाला सब ओर भुजाओं वाला और सब ओर पाओं वाला एक ही देव द्यौ और भूमि को उत्पन्न करता हुआ दोनों भुजाओं से पंखों से धौंकता है ॥ २ ॥

जिस गोले में से द्यौ और पृथिवी निकले, वह गोला इन की उत्पत्ति के समय अत्यन्त प्रचण्ड होता है, मानों इस तरह विश्वकर्मा ने अपनी दोनों भुजाओं से धौंककर उस अग्नि को प्रचण्ड किया है। जैसे लोहार धौंकनी से धौंककर अग्नि को प्रचण्ड करता है लोहार जिस धौंकनी से धौंकता है, वह उसकी भुजाओं से अलग होती है। यहां भुजाओं से अलग धौंकनी नहीं, इसलिये भुजाओं को पंख ठहराया है। 'सम्+धम्' का अर्थ धौंक

कर अग्नि प्रचण्ड करना है। १०।७२।२ से यह विषय और सम्+धम्, का अर्थ स्फुट प्रतीत होताहै "ब्रह्मणस्पति रेता संकर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्येयुगेऽसतः सदजायत" "ब्रह्मणस्पति ने इनको लोहार की नांई धौंका, तब देवताओं के पुराने युग में अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न हुआ"। इसी प्रकार ४।२।१७ में इसी अर्थ में 'धम्' धातु का प्रयोग है॥

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः*। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥ ४॥

प—(किं। स्वित्) कौन (वनं) वन (कः) कौन (उ) और (सः) वह (वृक्षः) वृक्ष (आस) था (यतः) जिससे (द्यावाऽपृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (निःऽततक्षुः) (उन्होंने) छील कर बनाया (मनीषिणः) हे सोचने वालो (मनसा) मन से (पृच्छत) पूछो (इत्। उ) भी (तत्) वह (यत्) जिसको (अधि। अतिष्ठत्) उसने अधिष्ठान बनाया = ठहरा (भुवनानि) भुवनों को (धारयन्) आसानी से धारण करता हुआ॥

अ—वह वन कौन था और वह वृक्ष कौन था जिस से (जगत् के रचने वाली शक्तियों ने) द्यौ और पृथिवी को छील कर बनाया। हे सोचने वालो! यह अपने मन से ही पूछो (मन में ढूंढो) और वह (वस्तु) भी जिस पर वह ठहरा, जब कि उसने सारे भुवनों को आसानी से धारण किया॥ ४॥

अभिप्राय यह है कि न कोई उसका आधिष्ठान है और न

* इस मन्त्र का पूर्वार्ध १०। ३१। ७ का भी पूर्वार्ध है॥

कोई उससे परे वृक्ष है। अधिष्ठान् वह सबका आप है और द्यावापृथिवी को उस प्रकृति से बनाता है, जिस के आप अन्दर है। तै० ब्रा० २।८।९ में इस मन्त्र के उत्तर में कहा है "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" ब्रह्म वन और ब्रह्म ही वह वृक्ष था इत्यादि॥

या ते धामानि परमाणि याऽवमा विश्वकर्मन्नुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ५॥

प—(या) जो (ते) तेरे (धामानि) धाम=स्थान (परमाणि) ऊंचे (या) जो (अवमा) निचले (विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन् (उत) और (इमा) ये (शिक्ष) सिखा (सखिऽभ्यः) मित्रों को (हविषि) हवि में=यज्ञ में (स्वधाऽवः) प्रकृति वाले=प्रकृति के मालिक (स्वयं) आप (यजस्व) यजनकर (तन्वं) शरीर को =अपने आपको (वृधानः) बढ़ता हुआ॥

अ—हे विश्वकर्मन्! जो ये तेरे धाम (यज्ञ के योग्य स्थान) बड़े हैं और जो ये छोटे हैं, हे प्रकृति के मालिक! यज्ञ में वे अपने मित्रों को (हमें) सिखाओ और बढ़ते हुए (प्रसन्न होते हुए) आप अपना यजन करो॥ ५॥

तुम्हाराही यह यज्ञ है, तुम आप इसको पूर्ण करो, और आप हमें अपनी पूजा सिखाओ। यह आशय १०।७।६; ६।११।२ के देखने से और भी स्पष्ट होता है॥

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभि-

तो जनास इहास्माकं मघवासूरिरस्तु ॥६॥

प—(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन् (हविषा) हवि से (वावृधानः) बहुत बढ़ता हुआ = बहुत प्रसन्न होता हुआ (स्वयं) आप (यजस्व) यजन कर (पृथिवीं) पृथिवी को (उत) और (द्यां) द्यौ को (मुह्यन्तु) मोह को प्राप्त हों (अभितः) दोनों ओर (जनासः) लोग (इह) यहां (अस्माकं) हमारा (मघवा) धनवान् (सूरिः) बुद्धिमान (अस्तु) हो ॥

अ—हे विश्वकर्मन् ! हवि से प्रसन्न होते हुए तुम स्वयं द्यौ और पृथिवी को यजन करो। दूसरे लोग (यज्ञ न करने वाले) दोनों ओर से हैरान हों, उदार और बुद्धिमान् (विश्वकर्मा) हमारा हो ॥ ६ ॥

द्यौ और पृथिवी को यजन करो, हमारे यज्ञ को द्यौ और पृथिवी के लिये बनाओ। अथवा द्यौ और पृथिवी की आहुति करके उस से पवित्र जीवन हमारे लिये प्रकट करो ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ ७ ॥

प—(वाचः। पतिं) वाणी के स्वामी (विश्वऽकर्माणं) विश्वकर्मा को (ऊतये) सहायता के लिये (मनःऽजुवं) मन जैसे वेग वाले (वाजे) यज्ञ में (अद्य) आज (हुवेम) बुलावें = पुकारें (सः) वह (नः) हमारे (विश्वानि) सारे (हवनानि) बुलावों को (जोषत्) सेवन करे = सुने (विश्वऽशम्भुः) सब का भला चाहने वाला (अवसे) रक्षा के लिये (साधुऽकर्मा) भले कर्मोंवाला

अ—वाणी के पति और मन जैसे वेग वाले विश्वकर्मा को आज हम यज्ञ में बुलावें (पुकारें) वह सब का भला चाहने वाला और भले कर्मों वाला (विश्वकर्मा) हमारी रक्षा के लिये हमारे बुलावों को सुने ॥ ७ ॥

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८२ ।

चक्षुषःपिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने। यदेदन्ता अदद्दहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ १ ॥

प—(चक्षुषः) आंख का (पिता) पिता (मनसा) मन से (हि) निःसंदेह (धीरः) धीर (घृतं) घृत में (एने) इन दोनों को (अजनत्) उत्पन्न किया (नम्नमाने) नमे हुए = डूबे हुए (यदा। इत्) जूंही (अन्ताः) किनारे (अदद्दहन्त) दृढ़ हुए (पूर्वे) पहले (आत्। इत्) त्यों ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (अप्रथेतां) फैले ॥

अ—आंख का पिता और मन में धीर (विश्वकर्मा) ने घृत में डूबे हुए इन दोनों (द्यौ और पृथिवी) को बनाया। जूंही कि इनके पहले किनारे दृढ़ हुए त्यों ही द्यौ और पृथिवी फैले।१

आंख का पिता = प्रकाश का देने वाला, प्रकाश का उत्पन्न करने वाला ॥

घृत = पिघला हुआ मादा, अर्थात् द्यौ और पृथिवी के चारों ओर पिघला हुआ मादा था पानी की नाईं ॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्। तेषामिष्टानि समिषा

मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥२॥

प—(विश्वऽकर्मा) (विऽमनाः) बड़े मन वाला = ज्ञान में सब से बड़ा (आत्) इसके पीछे (विऽहायाः) सब से बड़ा = बड़ी शक्ति वाला (धाता) धारण करने वाला (विऽधाता) बांटने वाला वा धर्म का विधान करने वाला (परमा) सब से ऊंची शक्ति (उत) और (संऽदृक) ठीक२ देखने वाला (तेषां) उनके (इष्टानि) हविर्यें (इषा) रस से (सं । मदन्ति) प्रसन्न होती हैं (यत्र) जहां (सप्तऽऋषीन्) सात ऋषियों से (परः) परे (एकं) एक (आहुः) कहते हैं॥

अ—विश्वकर्मा जैसा ज्ञान में सब से बड़ा है, वैसा ही शक्ति में सब से बड़ा है। वह धाता विधाता सब से ऊंची शक्ति और सब का साक्षी है। उनकी हविर्यें वहां रस से प्रसन्न होती हैं, जहां बतलाते हैं, कि एक है, वह एक जो सात ऋषियों से परे है ॥ २ ॥

उनकी हविर्यें वहां रस से प्रसन्न होती हैं = यज्ञ करने वालों के यज्ञ वहां रस से भरते हैं, वहां फल देते हैं, जहां वह एक शक्ति है जो "विमना विहाया" है ॥

'सात ऋषि, वेद में सात ऋषियों से क्या अभिप्राय है यह अभी अन्वेषणीय हैं। पूर्व कह आए हैं, कि ऋषियों को उत्पन्न करने वाला बतलाया है, अतएव यह कोई स्वाभाविक शक्तियां हैं। हां बृहदारण्यक २। २ में सात ऋषि, सात इन्द्रिय बतलाए हैं। दोनों कान दोनों नेत्र दोनों नासिका और जिव्हा। इस अर्थ में यह अभिप्राय है, कि विश्वकर्मा इन सात ऋषियों से परे है। अर्थात् इनकी पहुंचसे परे हैं, इन्द्रियों द्वारा उसको नहीं पासक्ते॥

आकाश में जो सात नक्षत्र इकट्ठे हैं, अर्थात् मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ उनको भी सप्त ऋषि कहते हैं ॥

सांख्य सिद्धान्त में महत्तत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा ये सात पदार्थ हैं, जिन से यह सारा ब्रह्माण्ड बना है। यदि यहां सात ऋषि से यह सात तत्व अभिप्राय समझा जाए, तो अर्थ तो ठीक संगत हो जाता है। क्योंकि इन से परे एक ही तत्त्व है जो उस ब्रह्म के साथ शरीरभाव से एक हो रहा है। और सब कुछ जगत् इससे वरे है। परे एक ही है। पर हमें यहां इस अर्थ के स्वीकार करने में पूरा २ संकोच है, क्योंकि यहां सात ऋषियों से यह अभिप्राय है इस में कोई प्रमाण नहीं। असली अर्थका यह चिन्ह नहीं, कि यह बात किसीयोग्य विद्वान् ने किसी जगह मानी है। असली अर्थ वही है जो वस्तुतः उसका अर्थ है ॥

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ३ ॥

प—(यः) जो (नः) हमारा (पिता) (जनिता) उत्पन्न करने वाला (यः) जो (विऽधाता) वांटने वाला, अथवा धर्म का विधान करने वाला (धामानि) धामों को (वेद) जानता है (भुवनानि) भुवनों को (विश्वा) सारे (यः) जो (देवानां) सारे देवताओं का (नामऽधाः) नाम धारने वाला (एकः) एक (एव) ही (तं) उस (संऽप्रश्नं) इकट्ठे प्रश्न को (भुवना) भुवन (यन्ति) पहुंचते हैं (अन्या) दूसरे ॥

अ—जो हमारा पिता सबका उत्पन्न करने वाला है और

जो विधाता है जो (त्रिलोकी के) सारे स्थानों और सारे भुवनों को जानता है। जो एक ही सारे देवताओं का नाम धारने वाला है दूसरे सारे भुवन उस एक प्रश्न को पहुंचते हैं ॥ ३ ॥

सारे भुवनों से उस एक ही की महिमा प्रकाशित होती है, इसलिये सारे भुवन उसी एक प्रश्न को निर्धारण करते हैं। सूर्य के अन्दर धसकर देखो, एक चितिशक्ति सारे काम करती दिखाई देगी। अब अग्नि के अन्दर प्रवेश करो, वही शक्ति यहां भी काम कर रही है, अब अपना हृदय खोलकर कहो, क्या देखा है ? जो वहां है,वही यहां है। सूर्य ने जो प्रश्न निर्धारण(हल) कर दिया था अग्नि भी उसीके हलकरने में तत्पर है। सूर्य उत्तर देता है, मेरा यश सारा उसका है, इसलिये मेरा नाम उसी का नाम है। अग्नि भी यही उत्तर देता है, तब यह वचन कितना मीठा होजाता है "यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या" जिस ऋषि ने इस सचाई को साक्षात् कर लिया था, वह ज्वलन्त वाणी में कहता है "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" कठ । ३ । १० जो यहां है वह ही वहां है, जो वहां है, वह ही यहां है। मृत्यु से वह मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस में विभिन्न सा देखता है।

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना। असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ ४ ॥

प—(ते) वे (सं । आ । यजन्त) मिलकर यजन करते

हुए (द्राविणं) धन (अस्मै) इसके लिये (ऋषयः) ऋषि (जारितारः) स्तुति करनेवाले (न) जैसे (भूना) वहुतायत से (असूर्ते) न चमकते हुए में (सूर्ते) चमकते हुए में (रजसि) अन्तरिक्ष में (निषत्ते) वैठे हुए (ये) जो (भूतानि) भूतों को (सं । अकृण्वन्) मिलकर वनाते हुए (इमानि) इनको ॥

अ—उन पहले ऋषियों ने स्तुति करनेवालों की नाईं वहुतायत से अपने धन इस (विश्वकर्मा) के लिये मिलकर यजन किये (अर्पण किये) जिन्होंने न चमकतेहुए (पृथिवी) चमकते हुए (द्यौ) और अन्तरिक्ष में वैठकर इन सव भूतों को वनाया ॥४ ॥

यहां स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह ऋषि जो भूतों के वनाने वाले हैं, ये स्वाभाविक शक्तियां हैं, जो न केवल पृथिवी में हैं किन्तु अन्तरिक्ष और द्यौ में भी स्थित हैं ।

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिर सुरैर्यदास्ति। कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥ ५ ॥

प—(परः) परे (दिवा) द्यौ से (परः) परे (एना) इस (पृथिव्या) पृथिवी से (परः)परे (देवेभिः) देवों से (असुरैः) असुरों से (यत्) जो (अस्ति) है (कं । स्वित्) किस (गर्भं) गर्भ को (प्रथमं) पहले (दध्रे) धारण किया (आपः) जलों ने =सूक्ष्म सृष्टि ने (यत्र) जिस में (देवाः)देवता (सं । अपश्यन्त) देखे गए (विश्वे) सारे ॥

अ—द्यौ से परे इस पृथिवी से परे देवताओं से परे और असुरों से जो परे है । किस गर्भ को जलों ने पहले धारण किया, जिस में सारे देवता इकट्ठे देखे गए ॥ ५ ॥

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः सम गच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ६॥

प—(तं) उस (इद्) ही (गर्भं) गर्भ को (दध्रे) धारण किया (आपः) जलों ने=सूक्ष्मसृष्टि ने (यत्र) जिस में (देवाः) देवता (सं। अगच्छन्त) इकट्ठे थे (विश्वे) सारे (अजस्य) अजन्मा की (नाभौ। अधि) नाभि में (एकं) एक (अर्पितं) रक्खा हुआ था (यस्मिन्) जिस में (विश्वानि) सारे (भुवनानि) भुवन (तस्थुः) ठहरे हुए थे ॥

अ—जलों ने पहले उस ही गर्भ को धारण किया, जिस में सारे देवता इकट्ठे थे। अजन्मा की नाभी में वह एक रक्खा हुआ था, जिस में सारे भुवन ठहरे हुए थे ॥ ६ ॥

अजन्मा से यहां तात्पर्य्य विश्वकर्मा प्रतीत होता है,

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ७ ॥ *

प—(न) नहीं (तं) उसको (विदाथ) जानते हो (यः) जिसने (इमा) इनको (जजान) उत्पन्न किया है (अन्यत्) भिन्न (युष्माकं) तुम्हारे (अन्तरं) अन्दर (बभूव) है (नीहारेण) कुहर से=अज्ञान से (प्राऽवृताः) ढपे हुए (जल्प्या) कहने से

* ये दोनों सूक्त यजुर्वेद में भी हैं। वाज०-सं० १७। १७से२१ तक ८१ सूक्त०, फिर २५ से ३१ तक ८२ सूक्त है। २४ और ३२ मंत्र भी विश्वकर्मा के विषय में हैं, पर वे ऋग्वेद में नहीं हैं ॥

(च) और (असुऽतृपः) प्राणों में तृप्त होने वाले (उक्थऽशासः) उक्थ के कहने वाले (चरन्ति) फिरते हैं ॥

अ:—जिसने इन (भुवनों) को उत्पन्न किया है, वह तुम्हारे अन्दर तुम से अलग है, पर तुम उसको नहीं जानते हो। क्योंकि तुम कुहर से ढपे हुए और कहने मात्र से ढपे हुए, प्राणों में तृप्त और उक्थ कहने वाले बनकर विचरते हो ॥ ७ ॥

जो अपने प्राणपोषण में ही सन्तुष्ट हैं, वे कुहर (अन्धकार) में ढपे हुए हैं, वे उस परमात्मा को नहीं जानसक्ते। और जो उक्थ (वेद के भजन) कह छोड़ते हैं, वे कहने मात्र से ढपे हुए हैं, वे भी उसको नहीं जान सक्ते। उसको वे ही जानते हैं, जो प्राणों से परे आत्मा को अधिक प्यार करते हैं और उक्थ के तात्पर्य्य पर पहुंचते हैं ॥

यह सारा वर्णन जो ऊपर कर आए हैं, यह ब्रह्म का समष्टि वर्णन है। या यूं कहो, कि यह उसकी समष्टि महिमा का वर्णन है। अब व्यष्टि महिमा का वर्णन लिखते हैं। पर यहां हम आगे नहीं बढ़ सक्ते, जब तक इस बात को निर्धारण न करलें, कि व्यष्टि में भी उसी की महिमा का वर्णन है। क्योंकि साधारणतया वेदों को देखकर यही जान पड़ता है, कि वेदों में भिन्न २ देवताओं का वर्णन है। पर हम जिस निश्चय पर पहुंचे हैं, वह यह है कि वेदों में एक ही ब्रह्म का कई प्रकार से वर्णन है। और उसके कारण यह हैं—

(१) हम पहले दिखला आए है, कि वेदों में उस ईश्वर का वर्णन नहीं, जो मनुष्य के ख्याल से उत्पन्न हुआ है, किन्तु उस ईश्वर का वर्णन है, जो इस सृष्टि का ईश्वर है। जो इस विश्व से अलग बैठा हुआ नहीं, किन्तु इस के अन्दर

शक्तिरूप से काम कर रहा है। जिस तरह आंख आत्मा के अधीन खुलती है, इसी तरह सूर्य उसके अधीन चमकता है। जिस तरह आंख देखती हुई उस शक्ति का प्रकाश करती है, जिस के अधीन उसकी दर्शन शक्ति है, इसी तरह सूर्य चमकता हुआ उस शक्ति का प्रकाश करता है, जिसके अधीन उसकी प्रकाशन शक्ति है:—" येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धो नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" तै०ब्रा० ३।१२।९ "जिस तेजसे प्रकाशित होकर सूर्य चमकता है, वह उस बड़े (तेज) को नहीं जानता, जो वेदको नहीं जानता है" यह जगत् परमात्मा का शरीर है और वह इसका अन्तरात्मा है जिस तरह जीवात्मा की शक्ति से शरीर परिचालित होता है, उसी तरह परमात्मा की शक्ति से ब्रह्माण्ड परिचालित होता है। वह इस सारे विश्व में एक शक्ति है, जो चेतन है। यह उसके बिना शक्ति हीन है *। वस्तुतः वही एक शक्ति है, जिस से सारे ब्रह्माण्ड को सामर्थ्य मिलरहा है। इसी लिये उसको शक्तिरूप से वर्णन किया है। हम १०।८२। २ में देखते हैं, कि विश्वकर्मा पुँल्लिङ्ग है (पुरुष रूप में वर्णन किया है) और उसके विशेषण " विमनाः, विहायाः, धाता, विधाता और सन्दृक्" ये भी पुँल्लिङ्ग है। पर इनके भीतर " परमा " यह एक स्त्री लिङ्ग शब्द पड़ा है। यह क्यों स्त्री लिङ्ग है, दूसरे शब्दों की नाईं " परमः " इस प्रकार यह भी पुँल्लिङ्ग हो सक्ता था। पर ' परमः ' न कह कर ' परमा ' कहा है। यह इसी लिये है, कि यह विश्वकर्मा जो धाता विधाता है, यह एक शक्ति है, जो सब से ऊपर है। यह सारा विश्व उसी शक्ति से प्रकाशित है। इसी लिये आग्नेय सूक्तों में अग्निद्वारा जो उसका प्रकाश (ज़हूर

* देखो बृहदारण्यक की भूमिका पृष्ठ ८ से १२ तक॥

है, उसको दिखलाया है और वारुण सूक्तों में वरुणद्वारा जो उसका प्रकाश है, उसको दिखलाया है। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त जिस में परमात्मा को शक्तिरूप से वर्णन किया है, नीचे लिखते हैं—ऋग् १०। १२५

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यै रुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभाविभर्म्यह मिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

प—(अहं) मैं (रुद्रेभिः) रुद्रों के साथ (वसुभिः) वसुओं के साथ (चरामि) विचरती हूं (अहं) मैं (आदित्यैः) आदित्यों के साथ (उत) और (विश्वदेवैः) सारे देवों के साथ (अहं) मैं (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण को (उभा) दोनों (बिभर्मि) धारण किये हूं (अहं) मैं (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि को (अहं) मैं (अश्विना) अश्वियों को (उभा) दोनों

अ—मैं रुद्रों के साथ और वसुओं के साथ विचरती हूं। मैं आदित्यों और विश्वदेवों के साथ (विचरती हूं) मैं दोनों मित्र और वरुण को धारण किये हूं, मैं इन्द्र अग्नि को और दोनों अश्वियों को धारण किये हूं ॥ १ ॥

अहं सोम माहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्। अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

प—(अहं) मैं (सोमं) सोम को (आहनसं*) चोट देने

---

* "आहनम्" प्रसिद्ध शब्द नहीं, इसका अर्थ धात्वर्थ से

वाले=उत्तेजना देनेवाले(बिभर्मि) धारण किये हूं (अहं) मैं (त्वष्टारं) त्वष्टा को (उत) और (पूषणं) पूषा को (भगं) भगको (अहं) (दधामि) धारण किये हूं (द्रविणं) धन (हविष्मते) हविवाले (सुप्रऽअव्ये ✝) शुद्धाचारी (यजमानाय) यजमान के लिये (सन्वते) (सोम) रस बहाते हुए ॥

अ—मैं चोट देनेवाले सोम को धारण किये हूं, मैं त्वष्टा को पूषा को और भग को । मैं हवि वाले, सोम रस बहाते हुए, शुद्धाचारी यजमान के लिये धन (यज्ञ का फल) धारण कियेहूं॥

यजमान के लिये धन धारण किये हूं, यह वचन प्रकट करता है, कि वैदिक कर्मों का फल देने वाली वही शक्ति है। जो शक्ति मित्र और वरुण को धारण कर रही है, वही वैदिक कर्मों का फल धारण किये है। यह विषय ब्रह्मसूत्र ३ । २ । ३८—४१ तक भगवान् वेदव्यास ने सविस्तर वर्णन किया है ॥

सहारे किया गया है। ऋग्वेद में यह शब्द सात बार प्रयुक्त हुआ है । दोवार यमयमी सूक्त में । एकवार पर्जन्य वा इन्द्र के सम्बन्ध में, और सब जगह सोम के सम्बन्ध में है। जो अर्थ ऊपर दिया है, वह सब जगह संगत होजाता है। सोम को चोट देनेवाला इस लिये कहा है, कि सोम का लौकिक फल शत्रुओं पर विजय पाना है। अर्थात् सोम शत्रुओं को चोट देने वाला है। वा चोट देकर संग्राम में लगाता है अर्थात् उत्साह से भर देता है ॥

✝ " सुप्रावी: " यह शब्द भी अप्रसिद्धार्थक है, पर यह भी यौगिक है क्योंकि २ । १३ । ८ में " सुप्राव्य: " यह कृदन्तपद इन्द्र का विशेषण है और ४ । २५ । ६ में " सुप्रावी: " का प्रतियोगी " दु:प्रावी: " शब्द प्रयोग किया है । सुप्रावी:, बहुत अच्छी तरह रक्षा करने वाला, अर्थात् शुद्ध भाव से यज्ञादि कर्म करनेवाला। शुद्धाचारी (परहेज़गार) और दु:प्रावी = दुराचारी ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् । तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

प—(अहं) मैं (राष्ट्री) देशवाली = देशकी मालिक (संऽगमनी) इकट्ठा करनेवाली (वसूनां) धनों की = खज़ानों की (चिकितुषी) जानचुकी हुई = साक्षात् करचुकी हुई, (प्रथमा) पहली = मुखिया (यज्ञियानां) यज्ञके योग्यों में से (तां) उस (मा) मुझको (देवाः) देवताओं ने (वि। अदधुः) बांटा है (पुरुऽत्रा) बहुत स्थानों में (भूरिऽस्थात्रां) बहुत में = हर एक में स्थित (भूरि) बहुत में (आऽवेशयन्तीं) प्रवेश करती हुई ॥

अ—मैं सारे देशकी मालिक हूं, सारे धन मेरे पास इकट्ठे हैं।मेरे ज्ञान से बाहर कोई वस्तु नहीं । जो यज्ञ के योग्य हैं,उन में मैं ही मुखिया हूं । मैं जो हर एक वस्तु में प्रविष्ट हूं और हर एक वस्तु में रहती हूं । उस मुझको देवताओं ने बहुत स्थानों में बांटा हुआ है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र स्पष्ट बोधन करता है,कि यह सारा राज्य, जिस में किसी प्रकार की भी प्रजा वास करती है, सब उसी एक शक्ति के अधीन है । इस ब्रह्माण्ड के सारे धन उसीके हैं । वह अपनी सारी प्रजा को स्वयं जानती है । प्रजा भी उसी के लिये यज्ञ करती है, उसी को बलि देती है, क्योंकि वही उनकी रानी है । इन्द्र के लिये बलि, वरुण के लिये बलि, और अग्नि के लिये बलि देखकर यह नहीं समझना चाहिये कि भिन्न २ देवताओं को बलि दी जाती है । नहीं, यह उसी एक शक्ति को बलि दी

जाती है। वही इन्द्र में प्रविष्ट होकर इन्द्र में स्थित है और वही अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि में स्थित है। देवताओं ने उसी को अपने अन्दर अलग २ बांट रक्खा है, "तद्यदिदमाहुरमुंयजामुं-यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वेदेवाः" सो जो एक २ देवता के लिये यह कहते हैं, कि "उसको पूजो उसको पूजो, इसी की यह त्रिविध रचना है यह ही सारे देवता हैं"

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ४

प—(मया) मेरे द्वारा (सः) वह (अन्नं) अन्न (अत्ति) खाता है (यः) जो (वि। पश्यति) देखता है (यः) जो (प्रऽअणिति) सांस लेता है (यः) जो (ईं) इस (शृणोति) सुनता है (उक्तं) कहे हुए को (अऽमन्तवः) न समझते हुए (मां) मेरे (ते) वे (उपऽक्षियन्ति) पास रहते हैं (श्रुधि) सुन (श्रुत) हे सुने हुए = जग में विख्यात। (श्रद्धिऽवं) श्रद्धावाली बात (ते) तुझे (वदामि) कहती हूं॥

अ—मेरे द्वारा वह अन्न खाता है, जो देखता है, सांस लेता है और कहना सुनता है। न जानते हुए वे मेरे पास रहते हैं, सुन हे सुने हुए! तुझे (यह) श्रद्धेय वचन कहती हूं॥ ४॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ५॥

प—(अहं) मैं (एव) ही (स्वयं) आप (इदं) यह (वदामि) कहती हूं (जुष्टं) सेवन किया हुआ = प्यार किया हुआ (देवेभिः) देवों से (उत) और (मानुषेभिः) मनुष्यों से (यं) जिसको (कामये) चाहती हूं = प्यार करती हूं (तंऽतं) उस २ को (उग्रं) उग्र=तेजस्वी (कृणोमि) बनाती हूं (तं) उसको (ब्रह्माणं) ब्राह्मण (तं) उसको (ऋषिं) ऋषि (तं) उसको (सुऽमेधां) बड़ी समझ वाला ॥

अ—मैं ही स्वयं यह बात कहती हूं, जो प्यारी है देवताओं के लिये और प्यारी है मनुष्यों के लिये । मैं जिसको प्यार करती हूं उस २ को उग्र बनाती हूं उसको ऋषि और उसको सुमेधा (बनाती हूं) ॥ ५ ॥

उग्र = भयानक, तेजस्वी, जिस का तेज दूसरों पर छा जाए, जिसकी ओर आंख उठाकर न देखसकें । यह १०।१२१।५ में द्यौ का विशेषण आया है "येन द्यौरुग्रा" और यहां यह शब्द क्षत्रिय के लिये है, जिस पर परमात्मा का अनुग्रह होता है, वह क्षत्रिय बनता है, वह ब्राह्मण बनता है, वह ऋषि बनता है और सुमेधा बनता है ॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ । अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥ ६ ॥

प—(अहं) मैं (रुद्राय) रुद्र के लिये (धनुः) धनुष को (आ। तनोमि) खींचती हूं = चढ़ाती हूं (ब्रह्मऽद्विषे) ब्रह्म से द्वेष करने वाले के लिये, ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध चलने वाले

के लिये (शरवे) तीर (हन्तवे । उ) मारने के लिये (अहं) मैं (जनाय) मनुष्य के लिये (सऽमदं) संग्राम को (कृणोमि) उत्पन्न करती हूं (अहं) मैं (द्यावाऽपृथिवी) द्यौ और पृथिवी में (आ । विवेश) प्रविष्ट हुई हूं ॥

अ—मैं रुद्र के लिये धनुष चढ़ाती हूं, ब्रह्म के द्वेषी को तीर मारने के लिये । मैं मनुष्य के लिये संग्राम उत्पन्न करती हूं, मैं द्यौ और पृथिवी में प्रविष्ट हूं ॥ ६ ॥

अथवा ब्रह्मद्विषे = वेद के द्वेषी के लिये

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिर-प्स्वन्तः समुद्रे । ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वो ताऽमूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥ ७ ॥

प—(अहं) मैं (सुवे) उत्पन्न करती हूं (पितरं) पिता को = द्यौ को (अस्य) इस जगत् के (मूर्धन्) मस्तक पर (मम) मेरा (योनिः) स्थान (अप्सु । अन्तः) जलों के अन्दर (समुद्रे) समुद्र में (ततः) उससे (वि । तिष्ठे) फैलती हूं (भुवना । अनु) भुवनों के साथ (विश्वा) सारे (उत) और (अमूं) उस (द्यां) द्यौ को (वर्ष्मणा) शरीर से—सिरसे (उप । स्पृशामि) छूतीहूं ॥

अ—मैं पिता को इस (जगत्) के मस्तक पर उत्पन्न करती हूं । मेरा स्थान जलों के अन्दर समुद्र में है, उस से मैं भुवनों के साथ २ फैली हूं और उस द्यौ को सिरसे छूती हूं ॥

" मेरा स्थान....हूं " समुद्र = सूक्ष्मसृष्टि । सूक्ष्मसृष्टि के अन्दर मैं ही अन्तर्यामिनी हूं और जब उससे यह भुवन बनते हैं तो इनकी अन्तर्यामिनी होकर इनके साथ फैलती हूं । अथवा मैं

समुद्र की गहराई में विद्यमान हूं और वहां से लेकर सारे भुवनों के साथ २ फैली हुई हूं ॥

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ॥ ८ ॥

प—(अहं) मैं (एव) ही (वातः । इव) वायु की नाईं (प्र । वामि) प्रबल बहती हूं (आऽरभमाणा) सहारा देती हुई (भुवनानि) भुवनों को (विश्वा) सारे (परः) परे (दिवा) द्यौ से (परः) परे (एना) इस (पृथिव्या) पृथिवी से (एतावती) इतनी (महिना) महिमा से (सं । बभूव) हूं ॥

अ—मैं ही सारे भुवनों को सहारा देती हुई वायु की नाईं वेग से बहती हूं । द्यौ से परे और इस पृथिवी से परे इतनी बड़ी मैं अपनी शक्ति से हूं ॥ ८ ॥

(२) जिस तरह वायु हमारे प्राण के लिये वहता है, इसी तरह वह शक्ति सारे भुवनों में जीवन देती हुई वेग से वहरही है। सर्वत्र उसी के सहारे जीवन उत्पन्न होरहा है। जब इस सारे जगत् में वही एक शक्ति काम कर रही है, तो इस में कोई सन्देह नहीं रहता, कि यह सारा विश्व उसी का प्रकाश करता है, इसी लिये यह कहा है "तस्माद्विराड़जायत विराजो अधिपूरुषः" (ऋग् १० । ९ । ५) उस से विराट् उत्पन्न हुआ और विराट् से पुरुष प्रगट हुआ। हम यह बात अथर्ववेद में और भी स्पष्ट पाते हैं:—(अथर्व० १३ । ४)

स वा अन्होऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥

स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रात्रिरजायत ॥ ३० ॥
सवाअन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत॥३१
स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत ॥ ३२ ॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद्द्यौरजायत ॥ ३३ ॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद्दिशोऽजायन्त ॥३४॥
स वै भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत ॥ ३५ ॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ३६॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥ ३७॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥ ३८॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद्यज्ञोऽजायत ॥ ३९ ॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥ ४० ॥

वह दिन से प्रकट हुआ, उस से दिन प्रकट हुआ ॥ २१ ॥
वह रात्रि से प्रकट हुआ, उस से रात्रि प्रकट हुई ॥ ३० ॥
वह अन्तरिक्ष से प्रकट हुआ, उस से अन्तरिक्ष प्रकट हुआ३१
वह वायु से प्रकट हुआ, उस से वायु प्रकट हुआ ॥ ३२ ॥
वह द्यौ से प्रकट हुआ, उस से द्यौ प्रकट हुआ ॥ ३३ ॥
वह दिशाओं से प्रकट हुआ, उस से दिशाएं प्रकट हुईं ॥३४॥
वह पृथिवी से प्रकट हुआ, उस से पृथिवी प्रकट हुई ॥३५॥
वह अग्नि से प्रकट हुआ, उस से अग्नि प्रकट हुई ॥ ३६ ॥
वह जलों से प्रकट हुआ, उस से जल प्रकट हुए ॥ ३७ ॥
वह ऋचाओं से प्रकट हुआ, उस से ऋचाएं प्रकट हुईं ॥३८॥
वह यज्ञ से प्रकट हुआ, उस से यज्ञ प्रकट हुआ ॥ ३९ ॥

वह यज्ञ है, उसका यज्ञ है, वह यज्ञ का मूर्धा है ॥ ४० ॥

(३) यह कैसा स्पष्ट उपदेश है, कि यह सारा विश्व उस से उत्पन्न हुआ है और यह अपने स्वरूप से उसीका प्रकाश करता है। इसी लिये वेदों का जानने वाला जब सूर्य के लिये ऋचा बोलता है, तो वह इस सूर्य में अपने परमात्मा का प्रकाश देखता है और वह अपनी स्तुति उसके लिये भेजता है, जिस की महिमा उससे चमकती है। और जब वह वरुण के लिये ऋचा बोलता है, तो उसकी भक्ति उसी में है, जिसकी महिमा को वरुण दिखलाता है। इस लिये वह इन भिन्न २ नामों से एक ही मालिक की महिमा को गाता है। क्योंकि ये सारे नाम उसीके हैं, यह बात भी वेदों से बड़ी स्पष्ट प्रतीत होती है:—

यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ (ऋग् १० । ८२ । ३)

जो सारे देवों का नाम धारने वाला एक ही है, उसी सांझे प्रश्न को सारे भुवन पहुंचते हैं, यहां "सम्प्रश्न" सांझा प्रश्न, यह शब्द ध्यान देने योग्य है। सारे भुवनों का वही एक सांझा प्रश्न है, सब भुवन उसीके बतलाने वाले हैं, और इसी लिये सारे देवताओं के नाम उसीके हैं।

इन्द्रंमित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यःस सुपर्णोगरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋग् ० १ । १६४ । २२

एक सत् (हस्ति) को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से कहते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं और वही दिव्य सुपर्ण

गरुत्मान् है, उसी अग्नि को यम और मातरिश्वा कहते हैं ॥

स्कम्भ सूक्त के २९ मन्त्र में स्कम्भ को सबका आधार ठहराकर उसी स्कम्भ को विना संकोच के इन्द्र शब्द से कहा है, और फिर अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से आरम्भ करके विना संकोच इसीको स्कम्भ कहा है । और फिर उससे आगे यह कहा है "नाम नाम्ना जोहवीति पुरासूर्यात् पुरोपसः" सूर्य से पहले और उषा से भी पहले परमात्मा की स्तुति करने वाला एक नाम को दूसरे नाम से बुलाता है । अर्थात् जिसको उसने स्कम्भ कहा है, उसीको इन्द्र कहता है, और जिसको इन्द्र कहा है, उसीको फिर और मन्त्रों में सविता कह देता है ।

(४) सच तो यह है, कि ये देवता जिनकी महिमा आश्चर्य कर देती है, ये सब उसी की महिमा से महिमा वाले हैं, अग्नि उसके विना अनग्नि है और वायु उसके विना अवायु है इसी लिये कहा है:—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः । (यजु० ३२। १)

वही अग्नि है, वही आदित्य है वही वायु है और वही चन्द्रमा है, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही जल और वही प्रजापति है।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥ (अथर्व० १३ । ३ । १३)

सायंकाल वह वरुण और अग्नि होता है, और प्रातःकाल उदय हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर आकाश से चलता है,

वह इन्द्र होकर मध्य से द्यौ को तपाता है ॥

स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ॥३॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥ ४ ॥
सो अग्निः सउ सूर्यःसउ एव महायमः५(अथर्व १३।४)

वह धाता (धारने वाला) वह विधाता (तरतीव देनेवाला) वह वायु और ऊंचा मेघ है । ३ । वह अर्यमा है वह वरुण है वह रुद्र है वह महादेव है । ४ । वह अग्नि है, वह सूर्य है और वही महायम है ॥ ५ ॥

यह कैसा स्पष्ट वर्णन है, इस विषय का, कि जो कुच्छ हमारे सामने है, वह सब उसी एक शक्ति से परिपूर्ण है, यह सब उसका शरीर है और वह अन्तरात्मा है। जिस तरह आत्मा भिन्न २ शरीर धारण करके मनुष्यादिरूप में उपस्थित होता है, उसी तरह परमात्मा सायंकाल वरुणरूप में उपस्थित होता है और प्रातःकाल मित्ररूप में उदय होता है ।

(५)अथर्ववेद का जो विषय हमने ऊपर लिखा है,इसी प्रकरण में हम आगे चलकर देखते हैं, कि उसकी एकता को कैसे ज़ोर के साथ वर्णन किया है और उस एकता के पहचानने का कैसा उत्तम फल कहा है :—

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्रह्माण-वर्चसं चान्नं चान्नाद्यंच ॥ १४ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ १६ ॥

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ॥१९॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।२०।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ २१ ॥

कीर्ति, यश, शक्ति, मेघ, ब्रह्मवर्चस, अन्न और पुष्टिदेने वाली वस्तुएं (उसके लिये हैं) ॥ १४ ॥ जो इस एकत्व (जो एक ही तत्त्व है, दो तत्त्वों के मेल से नहीं बना) देवको जानता है। १५। वह न दूसरा है, न तीसरा है न ही चौथा कहलाता है ॥ १६ ॥ न पांचवां है, न छटा है, न ही सांतवां कहलाता है ॥ १७॥ न आठवां है, न नवां है, न ही दसवां कहलाता है ।१८। वह उस सबको देखता है, जो सांस लेता है और जो नहीं (सांस लेता) ॥ १९ ॥ उस में यह जीतने की शक्ति भरपूर है, वह यह एक है, एकत्व है और एक ही है ॥ २० ॥ सारे देवता इस में एकत्व होते हैं ॥ २१ ॥

एक से लेकर दसतक ही सारे अंक हैं, सब संख्या इन्हीं के मेल से बनती हैं। सो परमात्मा के विषय में दो से लेकर दस संख्या तक निषेध करके एक ठहराने का यह अभिप्राय है, कि एक के सिवा और कोई भी संख्या उसको नहीं देसक्ते। बस उसको केवल एक, एक, एक ही कहसकते हैं। वह एक है और एक तत्त्व है। जैसे दो भिन्न २ तत्त्व मिलकर एक वस्तु बनती है वह इस तरह का एक नहीं, किन्तु एक है और एक तत्त्व भी है, । मित्र, वरुण, अग्नि, यम ये भिन्न२देवता वही एक तत्त्व है।

यह नाम भेद है और बाहर के सम्बन्ध का भेद है। जैसे एक ही आत्मा नेत्र के सम्बन्ध से द्रष्टा और श्रोत्र के सम्बन्ध से श्रोता है। इसी प्रकार वह एक ही परमात्मा एक सम्बन्ध से वरुण है और दूसरे सम्बन्ध से मित्र है। यास्कमुनि ने इस विषय को कैसा स्पष्ट दिखलाया है—

माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाःप्रत्यङ्गानि भवन्ति। (निरु० ७।४)

परमेश्वर का ऐश्वर्य बहुत बड़ा है, इसलिये उस एक ही आत्मा की इस प्रकार स्तुति की गई है, जैसे कि वे बहुत से हैं। एक ही देव है, दूसरे सारे देवता उसी एक आत्मा के प्रत्यंग हैं।

उपनिषद् और आरण्यक में भी ऐसा ही स्पष्ट कहा है—

तद्यदिदमाहुरमुंयजामुंयजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः। (बृहदा० ४।१।६)

सो जो यह कहते हैं, कि उसकी पूजा करो उसकी पूजा करो इस प्रकार एक २ देवता की (पूजा कहते हैं) वह इसी की विविध सृष्टि है, यह ही सारे देवता है।

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः। (ऐ०आ० ३।२।३।१२)

इस (परमात्मा) को ही ऋग्वेदी बड़े उक्थ में विचारते हैं, इसी को यजुर्वेदी अग्नि में उपासते हैं, इसी को सामवेदी महाव्रत में उपासते हैं॥

(६) फिर हम देखते हैं, कि एक ही देवता को सारे देवताओं के रूप में वर्णन किया है, यह तभी होसक्ता है, जब

वह देवता जिसका वर्णन हो रहा है, सबका अन्तर्यामी हो और सब में एक हो, हम इस विषय में थोड़े से प्रमाण उद्धृत करते हैं,

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः। त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥ ३ ॥

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः। त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः ॥ ४ ॥

त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तवग्नावो मित्रमहः सजात्यम्। त्वमाशु हेमा ररिषे स्वश्व्यं त्वं नरां शर्धो असि पुरूवसुः ॥ ५ ॥

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे ॥ (ऋग्वेद० २ । १ । ३—६)

हे अग्ने ! तू इन्द्र है, सारी सत्ता रखनेवाली वस्तुओं में तू शक्ति डालने वाला है, तू ही बड़ी पहुंच वाला (विस्तृत-जगत् पर ईशन करने वाला) नमस्कार के योग्य विष्णु है । तू ब्रह्मा है, धन का जानने वाला हे ब्रह्मणस्पते, तू हे विधर्तः! पुरन्धी के साथ मिला हुआ है ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! तू ही राजा वरुण है, जिसके नियम अटल हैं तू ही मित्र होता है, आश्चर्य स्वरूप, पूजा के योग्य । तू अर्यमा है सब हस्ती रखने वालों का मालिक है, जिसको मैं भोग सक्ता हूं हे देव तू ही अंश है यज्ञ में (फल का) बांटने वाला ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू त्वष्टा होकर पूजा करने के लिये बड़ी वीरता देता है, हे शक्तिवाले ! तू जो मित्र की नाई बड़ा है, तेरे साथ ही हमारा बन्धुपन है, तू ही तेज़ उकसाने वाला होकर बहुत अच्छे घोड़ों के समूह को देता है, तू जो धन में बड़ा अमीर है, तू मनुष्यों में सेना (बल) है ॥ ५ ॥ तू ही हे अग्ने ! रुद्र है और ऊंचे द्यौ का असुर है तू ही मरुतों की सेना होकर अनाज पर ईशन करता है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार ५ । ३ । १—२ में अग्नि को वरुण मित्र विश्वेदेव, इन्द्र और अर्यमा कहा है । फिर ५ । ८१ । ४—५ में सविता को मित्र और पूषा बतलाया है और यह भी "उतेदं विश्वं भुवनं विराजसि" तू ही इस सारे भुवन पर अनेक प्रकार से हकूमत करता है ॥

इसी प्रकार हम बृहस्पति के विषय में १०।९८।१ में पाते हैं—

बृहस्पते प्रति मे देवता मिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा

हे बृहस्पते तू मेरे लिये देवता (पर्जन्य) को ला, तू जो मित्र है, वरुण है, वा पूषा है ॥ यह हमने संक्षेप से दिखला दिया है, कि एक ही देवता को विना संकोच के सारे देवताओं के रूप में वर्णन कर दिया है और यह इसलिये है, कि जब हम अग्नि देवता का सूक्त पढ़ते हैं, तो वह अग्नि वही है, जो वरुण देवता के सूक्त में वरुण है । और मित्र के सूक्त में मित्र है ॥

(७) हमारा यह निश्चय और भी दृढ़ होता है, जब हम इस बात को देखते हैं, कि एक ही देवता में असीम (बेहद) शक्ति वर्णन की गई है । यदि यह देवता उस परम शक्ति से भिन्न होते, तो इनका सामर्थ्य अवश्य सीमा में रहना चाहिये क्योंकि असीम सामर्थ्य केवल उसी एक शक्ति का है, और हम हर एक देवता के

वर्णन में ऐश्वरी शक्तियों का वर्णन पाते हैं—

वनेषुव्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोम मद्रौ ॥ (ऋग् ५। ८५। २)

वृक्षों में वरुण ने अन्तरिक्ष को फैलाया है, उसने घोड़ों में वेग और गौओं में दूध (स्थापन किया है) वरुण ने हृदयों में बुद्धि और जलों में अग्नि को स्थापन किया है, सूर्य को द्यौ में और सोम को पर्वत पर स्थापन किया है ॥ २ ॥

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः ॥ (ऋग् १। २४। ७)

जो (वरुण) आकाशमार्ग से उड़ते हुए पञ्छियों के पद (पाओं के चिन्ह, खोज) को जानता है और जो समुद्र के अन्दर जहाज़ के पद को जानता है ॥७॥ इस वर्णन से कैसा स्पष्ट प्रतीत होता है, कि वरुण से अभिप्राय परमात्मा है। अधिक स्पष्ट करने के लिये कुच्छ मन्त्र और भी लिखते हैं:—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥ उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता। उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥ (अथर्व० ४। १६)

जो खड़ा है, जो चलता है, जो काम करता है, जो सोता है, उठता है, (उसको वरुण जानता है) दो मनुष्य अलग बैठ

कर जो सलाह करते हैं, राजा वरुण उन में तीसरा होकर उस को जानता है ॥ २ ॥

यह पृथिवी राजा वरुण की है और वह द्यौ राजा वरुण का है, जो बहुत बड़ा है और दूर तक फैला हुआ है । दोनों समुद्र (जलका और वायु का) वरुण की कुक्षी हैं और वह पानी की छोटी सी बून्द में भी छिपा हुआ है ॥ ३ ॥ यह वर्णन सर्वान्तर्यामी परमात्मा का है, इस में क्या सन्देह हो सक्ता है ॥

इसी प्रकार इन्द्र के विषय में है—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्रइत्पर्वतानाम् । इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ (ऋग्० १० । ८९ । १०)

इन्द्र द्यौ पर हकूमत करता है, इन्द्र पृथिवी पर हकूमत करता है, इन्द्र जलोंपर हकूमत करता है और इन्द्र ही मेघ पर हकूमत करता है, इन्द्र बढ़ने वालोंपर हकूमत करता है और इन्द्र ही समझ वालोंपर हकूमत करता है, जो कुछ पास नहीं है, उस के पाने के लिये इन्द्र पुकारने योग्य है । और जो कुछ पास है, उसकी रक्षा के लिये भी इन्द्र पुकारने योग्य है = (इन्द्र की प्रार्थना से उस वस्तु को पाओगे, जो तुम्हारे पास नहीं है और जो कुछ मिलगया है, उसकी रक्षा के लिये भी वही प्रार्थनीय है) ॥

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः । मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥ (ऋग्० १० । ४८ । १)

मैं (इन्द्र) सारे धन का मुख्य स्वामी हूं, मैं सदा रहने

वाले धनों को जीतता हूं, मुझे लोग पिता की नाईं बुलाते हैं (पुकारते हैं) मैं देनेवाले को भोजन बांटता हूं।१। और फिर एक और जगह पर यह वचन पाते हैं "विश्वस्यैक ईशिषेसास्युक्थ्यः" हे इन्द्र सारे विश्व पर तू ही अकेला हकूमत करता है, सो तू ही भक्ति के योग्य है॥ इन्द्र के विषय में ये वचन, कि "इन्द्र ही बढ़ने वालों और बुद्धिमानों पर हकूमत करता है" "इन्द्र ही मुख्य मालिक है" इन्द्र सारे विश्वपर अकेला हकूमत करता है' कैसा स्पष्ट इन्द्र को परम आत्मा ठहराते हैं। फिर हम इन्द्र के वर्णन में यह भी पाते हैं "सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्" (१।५२।१३) यह बिल्कुल ठीक है, कि तेरे बराबर और कोई नहीं। "य एक इद्विदयते वसुमर्ताय दाशुषे" (ऋग् १।८४।७) "जो एक ही धन देता है उस मनुष्य को, जो हवि देता है"। इसी प्रकार और देवताओं के विषय में भी हम ऐसे वचन पाते हैं, जो परमात्मा में ही घट सकते हैं। इससे यही जान पड़ता है, कि एक ही आत्मा को अनेक प्रकार से वर्णन किया है॥

(८) वेद हमारे लिये किस देवकी उपासना बतलाते हैं, इसका उत्तर हिरण्यगर्भ सूक्त में तो हम यह पाते हैं, कि हमारा उपास्य देव वही एक हिरण्यगर्भ है और उसके सिवा और कोई उपास्य देव नहीं। उस सूक्त में जैसाकि पहले लिख आए हैं, नौवार यह प्रश्न मिलता है, कि हमें किस देवकी पूजा करनी चाहिये? और सब जगह यही उत्तर है, कि उस हिरण्यगर्भ की जो सारे देवों का एक देव है। और हम दूसरी जगह इन्द्र के वर्णन में भी ऐसा ही पाते हैं:—

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ ५ ॥ उतनः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥६॥ (ऋ० १।४)

चाहे हमारे निन्दक यह कहें, कि तुम यहां से निकल जाओ और दूसरी जगह से भी निकल जाओ। क्योंकि तुम इन्द्र केवल इन्द्र की ही पूजा करते हो ॥ ५ ॥ और चाहे हमें अच्छे लोग हे आश्चर्य्यस्वरूप (इन्द्र) अच्छा कहें, पर हम तुम्हारी केवल तुम्हारी ही छाया में रहें ॥ ६ ॥

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जिन लोगों का उपास्य देव केवल हिरण्यगर्भ को ठहराया है, उन्हीं का उपास्यदेव इन्द्र किस तरह हो सक्ता है, अगर इन्द्र और हिरण्यगर्भ एक ही न हो और फिर जब इन्द्र को उपास्य देव ठहराया है तब भी यही कहा है, कि तुम जो केवल इन्द्र की ही उपासना करते हो । यह तब ही ठीक होसक्ता है, कि जब इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि में कोई भेद नहो, क्योंकि वेद में इन्द्र के सिवा वरुण आदि की भी उपासना पाई जाती है । जब इन में कोई भेद नहीं तो वह जो वरुण की आराधना करता है, वह इन्द्र की आराधना में कह सक्ता है, कि मैं सिवा इन्द्र के और किसी की पूजा नहीं करता, क्योंकि वह वस्तुतः किसी दूसरे की पूजा नहीं करता, जब वह इस सचाई को अनुभव करता है "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"

(९) फिर हम देखते हैं, कि देवताओं के नाम भी हमें एक ही देवता

बतलाते हैं। हम कई ऐसे नाम पाते हैं, जो कर्म से उत्पन्न हुए हैं, जैसे विश्वकर्मा अर्थात् वह देवता जिसने सब कुछ बनाया है (देखो ऋग् १०। ८१, ८२) बृहस्पति = वाणी का मालिक (१०, ६८) प्रजापति = प्रजा का मालिक (१० । ८५ । ४३) वास्तोष्पति = घर का मालिक (७ । ५४) इसी प्रकार क्षेत्रपति, ब्रह्मणस्पति इत्यादि। जब एक गृहस्थ पुरुष घर में कुशल क्षेम और आरोग्य वृद्धि के लिये उससे प्रार्थना करता है, तो वह अपने इष्टदेव को वास्तोष्पति कह कर पुकारता है। और उस समय उसकी यह प्रार्थना कितने प्रेम और भक्ति से भरी हुई होती है:—"वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः। यत्त्वेमहे प्रति तन्नोजुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे" (ऋग् ७ । ५४ । १) हे घर के मालिक, हमें स्वीकार करो, हमें अच्छी स्थिति दो और रोगों से बचाए रक्खो हम जब तुम से मांगते हैं, तुम हम को प्यार करो। हमारे मनुष्य और पशुओं के लिये कल्याणकारी रहो,, जिस प्रकार एक गृहस्थ घर में बैठकर उसको वास्तोष्पति मानकर उस में भक्ति दिखलाता है, उसी प्रकार एक किसान अपने क्षेत्र में बैठा हुआ उसको क्षेत्रपति मानकर उसकी स्तुति गाता है:—"क्षेत्रस्यपतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा सनो मृड़ातीदृशे" (ऋग् ४ । ५७ । १) क्षेत्रपति की सहायता से हम, गौ, घोड़ा और हर एक पुष्टि देने वाली वस्तु को जीतते हैं, जैसाकि किसी हितैषी की सहायता से, वह क्षेत्रपति हमें ऐसे

काम में सुखी करे,, कई एक नाम ऐसे हैं,जो "तृ" प्रत्यय से बना ए गए हैं, जैसे 'पू' से सवितृ, 'धा' से धातृ, विधातृ, 'त्रै' से त्रातृ, 'त्वक्षु' से त्वष्टृ, 'नी' से नेतृ। वास्तव में ये एक विशेषण शब्द है, जो उस २ कर्म को प्रगट करने के लिये बोले गए हैं। सवितृ = प्रेरने वाला, काम में लगाने वाला। धातृ = धारनेवाला, रचना करने वाला। त्रातृ = रक्षा करने वाला। त्वष्टृ = छीलने वाला = बढ़ई। नेतृ = लेजाने वाला = जीवन पथका नेता = जीवन का मार्ग दिखलाने वाला। जिन धातुओं से यह शब्द बने हैं, उनके अलग प्रयोग भी आते हैं। इसलिये ये शब्द उस २ कर्म के करने वाले को प्रगट करते हैं। ये किसी आकृति विशेष के नाम नहीं, इन से कोई आकृति वाला देवता सिद्ध नहीं होता, किन्तु यही प्रतीत होता है, कि उसी एक निराकार देवता को उस २ कर्म का कर्ता होने से वह २ नाम दिया है। इनके साथ कभी २ देवशब्द का अलग प्रयोग आता है। "**विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वो राये इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे**" (५।५० ।१) हर एक मनुष्य को चाहिये कि वह नेता देव की मैत्री को चुने, हर एक मनुष्य को चाहिये, कि वह ऐश्वर्य्य के लिये युद्ध करे, हर एक मनुष्य को चाहिये, कि वह पुष्टि के लिये यश को चुने॥

(१०)अब इस विषय को हम यहां ही समाप्त करते हैं,इन प्रमाणों से यह दिखलाया है, कि वेद का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में है। वेद, कहीं साक्षात् और कहीं उसकी रचना द्वारा, उसी एक को बतलाता है। इस दृढ़ विश्वास पर दृढ़ता देने वाला ऋषि का वह बचन सहस्रों वर्ष से अभी तक वैसा ही जाज्वल्यमान हुआ हमारे

पास आपहुंचा है:—"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" (कठ० २।१५) इस वचन से विश्वास पाकर जब वेद की शरण लेते हैं, तो वहां हमको फिर यही विश्वास मिलता है:—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य एदद्विदुस्त इमे समासते ॥ (ऋग् १।१६४।३९)

ऋचाएं उस अविनाशी परम आकाश (परमात्मा) में हैं अर्थात् उसको बतलाती हैं, जो सारे देवताओं का अधिष्ठाता है। जो उसको नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा, हां जो इस को जानलेते हैं, वे हैं, जो ये आनन्द से रहते हैं॥

स वै ऋग्भ्योऽजायत तस्माहचोऽजायन्त ॥

(अथर्व १३।४।३८)

ऋचाएं उससे प्रगट हुई हैं और वह ऋचाओं से प्रगट हुआ है।

ऊपर जो विषय निर्धारण किया गया है, कि एक ही परमात्मा की महिमा अनेक रूपों से प्रगट की गई है। व्यष्टिद्वारा भी उसी की महिमा को गाया है और समष्टिद्वारा भी उसी का ज्ञान सिखलाया है। इसके लिये हमने संहिता के अन्दर से पुष्कल प्रमाण दे दिये हैं, मन्त्र संहिता का तात्पर्य जब मन्त्र की भीतरी साक्षी से स्पष्ट हो जाता है, तो फिर कोई सन्देह शेष नहीं रहता। पर हम यह बात भी दिखलाना चाहते हैं, कि यह विचार हमारा कोई नया नहीं हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक इसकी बराबर रक्षा होती चली आई है। हां इस में सन्देह नहीं, कि जितना हम मन्त्रों के पास २ रहते हैं, उतना ही यह

सिद्धान्त ज्यादा चमकता हुआ दिखलाई देता है और ज्यों २ पीछे हटते हैं, त्यों २ मध्यम पड़ता गया है, पर यह विश्वास किसी समय भी आर्य्यावर्त ने खो नहीं दिया ॥

सब से पहले हम इस विषय को उपनिषदों से आरम्भ करते हैं, छान्दोग्य में से शुद्ध और शबल का भेद उपनिषद् के वचन से २२ पृष्ट में दिखलाया है और शुद्धस्वरूप का वर्णन २४—२८ पृष्ट में दिखलाया है। और ३३—३४ पृष्ट के नोट में ३०३, ३००३, ३३, ६, ३, २, डेढ़ और एक देवता दिखला कर अन्त में यह सिद्ध किया है, कि एक ही देवता है, और वह ब्रह्म है। फिर बृहदारण्य के प्रमाण से यह भी दिखलाया है, कि यह जो भिन्न २ देवताओं की पूजा कही है, यह उसी एक की पूजा है, वही सारे देवता है। बृहदारण्यक ३। ७ में एक ही परमात्मा को सारे भूतों और सब देवों में अन्तर्यामी अधिष्ठाता बतलाया है। और ब्रह्मसूत्र १। २। १८ से २० तक यह सिद्ध किया है, कि यह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है। छान्दोग्य १।६।६, ७, ८ में सूर्य के अन्दर उसको हिरण्मय पुरुष दिखलाया है और ब्रह्मसूत्र १। १। २०-२१ में यह सिद्ध किया है, कि हिरणमय पुरुष परमात्मा है। और फिर छान्दोग्य ३। १३। ७ में इस प्रकार है:—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः॥

जो इस द्यौ से परे, उत्तम और अनुत्तम सारे लोकों में

सब के ऊपर ज्योति (जोत) चमकती है। यही है, जो कि यह पुरुष के अन्दर ज्योति है—

यहां ज्योति शब्द से और चमकने से यह संदेह होता है, कि यह भौतिक ज्योति का वर्णन है, भौतिक ज्योति सब के ऊपर चमकती है और पुरुष के अन्दर भी यह ज्योति है, जो विद्युत् और जाठराग्नि के रूप में है। पर ब्रह्मसूत्र १।१।२४ में इस सन्देह को काटकर यह सिद्ध किया है, कि यह ज्योति परमात्मा है। स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस सूत्र के भाष्य में बहुत से सन्देह उठाकर उनका उत्तर दिया है। जिन में से एक यह है-

यत्तूक्तं "ज्योतिर्दीप्यते" इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति। नायं दोषः। प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात्। दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसम्भवात्। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" ॥ (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति च मन्त्र वर्णात् ॥

जो तुमने यह कहा है, कि "ज्योति चमकती है" ये दोनों शब्द (ज्योति और चमकना) इसी ज्योति के लिये बोले जाते हैं, जो यह उत्पन्न होनेवाली ज्योति है (इसलिये इस ज्योति से तात्पर्य ब्रह्म नहीं किन्तु भौतिक ज्योति है) यह कोई दोष नहीं। जब प्रकरण से ब्रह्म का निश्चय होगया, तो फिर ये दोनों शब्द कोई भेद नहीं कर सक्ते। यह चमकता हुआ कार्य ज्योति भी तो अपनी चमक से उसी ब्रह्म का प्रकाश करता है; इसलिये

इन दोनों शब्दों का प्रयोग उस में संभव है और "जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य चमकता है" यह मन्त्र में ही वर्णन कर दिया है॥

स्वामी शङ्कराचार्य्य के इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता हैं, कि यह जगत् जब उसी का प्रकाश करने वाला है और उसी के अधीन इस के सारे काम हैं, इसलिये उपनिषदों में इसके द्वारा उस की महिमा का प्रकाश किया है। और जो शब्द इस के लिये बोले जाते हैं, वे ब्रह्म के लिये बोले गये हैं। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र १। १। २८—३१ के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य्य कौषीतकि उपनिषद् के एक प्रकरण का विचार करते हुए यह सिद्ध करते हैं, कि यहां इन्द्र ने प्रतर्दन को जो प्राण की उपासना बतलाई है, वह ब्रह्म की ही उपासना है, क्योंकि प्राण की उपासना बतलाकर आगे कहा है:—"स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः" सो यह प्राण ही ज्ञानस्वरूप, आनन्द अजर और अमर है। यह बात ब्रह्म में ही घट सक्ती है, दूसरे प्राण में नहीं घट सक्ती, इस लिये यहां प्राण से ब्रह्म अभिप्राय है, दूसरा प्राण नहीं। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा, कि इसी प्रकरण में यह भी तो लिखा है कि "इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" प्राण ही इस शरीर को सहारा देकर उठाता है। शरीर को उठाना तो इसी प्राण का काम है, ब्रह्म का नहीं, फिर क्यों न यहां यही प्राण समझना चाहिये, जिसका प्राण नाम प्रसिद्ध भी है। इसका उत्तर यह दिया है:—

प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्, परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्। "न प्राणेन नापा-

नेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" ॥ (कठ २।५।५) इति श्रुतेः॥

प्राण का काम भी परमात्मा के अधीन है, इसलिये (प्राण का काम) परमात्मा में कह सक्ते हैं, जैसाकि श्रुति में है " न प्राण से न अपान से कोई मनुष्य जीता है, किन्तु जिस से जीते हैं, वह इन दोनों से भिन्न (ब्रह्म) है, जिस में कि ये दोनों (प्राण, अपान) सहारा लिये हुए हैं" ॥

संहिता में जिस प्रकार शुद्ध और शबल का वर्णन है, इसी प्रकार उपनिषदों में शुद्ध और शबल का वर्णन है, संहिता में जिस प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और प्रयति का वर्णन है इसी प्रकार उपनिषदों में भी तीनों का वर्णन है। संहिता में जिस प्रकार व्यष्टि के द्वारा उसकी महिमा को बतलाया है, उपनिषदों में भी इसी प्रकार व्यष्टि द्वारा उसकी महिमा को प्रगट किया है। उपनिषदों में ये सारे भेद अपने २ स्थान पर मिलेंगे। यहां हम उनमें से व्यष्टि और समष्टि उपासना का भेद दिखलाने के लिये उपनिषद् की एक प्रसिद्ध कथा का अनुवाद देते हैं—छान्दोग्य ५। ११.—"उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलष का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लव का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शार्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल, ये बड़े गृहस्थ और वेद के पूरे २ जानने वाले थे, इन्हों ने इकठे मिलकर यह विचार किया, कि हमारा आत्मा क्या है ब्रह्म क्या है। १। उन्होंने निश्चय किया, कि अरुण का पुत्र उद्दालक जो अभी वैश्वानर आत्मा के विषय में शिक्षा पाकर आया है, आओ उस के पास चलें। तब वे उसके पास गए। अब उद्दालक ने यह

निश्चय किया, कि ये जो बड़े गृहस्थ और बड़े वेदवेत्ता हैं; ये मुझ से पूछेंगे, और मैं इनकी सारी बातों का पूरा उत्तर नहीं दे सकूंगा। इस लिये मैं इनको किसी और आचार्य्य की ओर इशारा करूं। ३। उसने उनको कहा, आओ हम केकय के पुत्र अश्वपति के पास चलें, जिसने अभी वैश्वानर आत्मा के विषय में शिक्षा पाई है, तब वे उसकी ओर गए। ४। अश्वपति उनका आदर से स्वागत किया, और दूसरे दिन प्रातःकाल अश्वपति ने उनको कहा, मेरे देश में कोई चोर नहीं, कोई कदर्य (कंजूस) नहीं, न कोई शराब पीनेवाला, न कोई ऐसा है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई विनपढ़ा, न कोई व्यभिचारी पुरुष है, व्यभिचारिणी स्त्री तो कहां। हे भगवन्तो, मैंने यज्ञ करना है, उस में जो हर एक ऋत्विज को धन दिया जाता है, वह आप को दिया जाएगा, आप महानुभाव यहां रहें ॥ ५ ॥ उन्होंने उत्तर दिया, अपने अतिथियों को वह वस्तु दो, जिस की वे ढूंढ में हैं, आप वैश्वानर आत्मा के विषय में ज्ञान रखते हैं, वह ज्ञान हमें सिखलाओ ॥ ६ ॥ उसने उनको उत्तर दिया, कि मैं तुम्हें इसके विषय में कल सवेरे बताऊंगा। दूसरे दिन प्रातःकाल वे उसके पास आए, और समिधाएं हाथ में लेकर आए। उसने उनको उपनयन के विना ही कहा ॥ ७ ॥ हे उपमन्यु के पुत्र तू किस आत्मा की उपासना करता है, उसने कहा, हे भगवन् राजन्! द्यौ की। (अश्वपति ने कहा) कि तुम जिस की उपासना करते हो, वह बड़े तेज वाला आत्मा वैश्वानर है, इसी लिये तुम्हारे कुल में उत्तम यज्ञ देखे जाते हैं ॥ १ ॥ और तुम भोग भोगते हो, प्रिय देखते हो। क्योंकि वही भोग भोगता है और प्रिय देखता है, उसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, जो इस वैश्वा-

नर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है। पर द्यौ उस आत्मा का मूर्धा है (अर्थात् यह वैश्वानर–विराट् का एक अङ्ग है, वैश्वानर का पूर्णस्वरूप तुम इतने से नहीं समझे हो) .... ॥ २ ॥

फिर उसने पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ को कहा, हे प्राचीनयोग्य! तुम किस आत्मा की उपासना करतेहो, उसने उत्तर दिया हे भगवन् राजन्! आदित्य (सूर्य) की। उसने कहा, तुम जिसकी उपासना करते हो, यह विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है। इसी लिये तुम्हारे कुल में सब प्रकार का ऐश्वर्य दीखता है ॥ १ ॥ तुम्हारे रथों में खचरें जुड़ती हैं और तुम्हारी दासियों के पास मुहरों के हार हैं, तुम भोग भोगते हो, प्रिय देखते हो। क्योंकि वह भोग भोगता है और प्रिय देखता है, उसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, जो इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है। पर आदित्य उस आत्मा का नेत्र है........ ॥ २ ॥

तब उसने भाल्लव के पुत्र इन्द्रद्युम्न को कहा, हे व्याघ्रपाद की वंशवाले, तुम किस आत्मा की उपासना करते हो, उसने कहा, हे भगवन् राजन्! वायु की। अश्वपति ने कहा, वह आत्मा जिसकी तुम उपासना करते हो, यह भिन्न२ मार्गों वाला वैश्वानर आत्मा है, इसीलिये भिन्न २ स्थानों से तुम्हें भेंट आती हैं, भिन्न २ रथों की श्रेणियें तुम्हारे पीछे चलती हैं ॥ १ ॥ तुम भोग भोगते हो, प्रिय देखते हो। क्योंकि वह भोग भोगता है, प्रिय देखता है और उसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, जो इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है, पर वायु वैश्वानर आत्मा का सांस है........॥ २ ॥

तब उसने जन को कहा, हे शार्कराक्ष्य तुम किस आत्मा

की उपासना करते हो, उसने कहा, हे भगवन् राजन्! आकाश की। अश्वपति ने कहा, तुम जिसकी उपासना करते हो, यह बहुल (भरपूर) वैश्वानर आत्मा है, इसीलिये तुम सन्तान से और धन से भरपूर हो ॥१॥ भोग भोगते हो और प्रिय देखते हो। क्योंकि वह पुरुष भोग भोगता है प्रिय देखता है और उसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, जो इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है, पर आकाश वैश्वानर आत्मा के देह का मध्यभाग है........ ॥ २ ॥

तब उसने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल को कहा, हे व्याघ्र पाद की वंशवाले! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो, उसने कहा हे भगवन् राजन्! जलों की। अश्वपति ने कहा, तुम जिसकी उपासना करते हो, यह धनरूप वैश्वानर आत्मा है, इसी लिये तुम धनवाले और पुष्टिवाले हो ॥१॥ भोग भोगते हो, प्रिय देखते हो। क्योंकि वह भोग भोगता है, प्रिय देखता है और उस की कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, जो इस वैश्वानर आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है। पर यह वैश्वानर आत्मा की वस्ति (मूत्राशय) है........ ॥ २ ॥

तब उसने अरुण के पुत्र उद्दालक को कहा, हे गौतम तुम किस आत्मा की उपासना करते हो। उसने कहा, हे भगवन् राजन्! पृथिवी की। अश्वपति ने कहा, तुम जिसकी उपासना करते हो यह प्रतिष्ठास्वरूप वैश्वानर आत्मा है, इसी लिये तुम सन्तान के और पशुओं के द्वारा प्रतिष्ठा वाले हो ॥ १ ॥ भोग भोगते हो, प्रिय देखते हो। क्योंकि वह भोग भोगता है, प्रिय देखता है और उसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, जो इस वैश्वानर

आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है। पर यह वैश्वानर आत्मा के पाओं है .... ॥ २ ॥

तब अश्वपति ने उन सबको कहा, तुम इस वैश्वानर आत्मा को पूरा न जानते हुए भी भोग भोगते हो, पर जो इस वैश्वानर आत्मा को पूर्णरूप में जानता है, वह सब लोकों में सब भूतों में और सब आत्माओं में भोग भोगता है ॥ १ ॥ यह जो पूर्णरूप में वैश्वानर आत्मा है, बड़े तेजवाला द्यौ इसका मूर्धा है, सारेरूपों वाला आदित्य इसका नेत्र है, भिन्न २ गतिवाला वायु इसका सांस है, भरपूर आकाश इसका मध्यदेह है, धनरूप जल इसकी वस्ति है, पृथिवी पाओं है........ ॥ २ ॥

यह कथा पूरा वर्णन है इस बात का, कि वैश्वानर—इस सारे विश्व का चलाने वाला आत्मा जैसे वह पृथिवी का नेता है, वैसे ही द्यौ का नेता है, जैसे द्यौ उसका प्रकाश करता है, वैसे ही पृथिवी भी उसका प्रकाश करती है। पर जो खाली द्यौ में ही उसके प्रकाश को देखता है, वह उसके एक ही कर्म को देखता है, क्योंकि द्यौ उसका एक ही अंग है। यद्यपि वह परमात्मा की बहुत थोड़ी महिमा को जानता है, पर वह उसी की ही महिमा को पहचानता है, इसलिये वह लोक में ऐश्वर्य्य भोगता है, भलाई देखता है और उसकी वंश में धर्म का तेज बढ़ता है। पर उसकी पूर्ण महिमा को वह पहचानता है, जो इस सारे विश्व में उसकी महिमा को देखता है।

हम यहां संक्षेप से इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं, कि उपनिषदों में परमात्मा के वर्णन करने की सारी रीति वही है, जैसी मन्त्र में है। हां यह भेद अवश्य है, कि मन्त्र में व्यष्टि वर्णन

की प्रधानता है और उपनिषद् में समष्टि और शुद्ध वर्णन की प्रधानता है। जिस तरह नाम और वर्णन के भेद से मन्त्रों में सन्देह उत्पन्न होता है, इसी प्रकार उपनिषद् में भी नाम और वर्णन के भेद से सन्देह उत्पन्न होता है, जिसकी निवृत्ति के लिये भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्रों को रचा। और इस प्रकार उपनिषद् का विषय स्पष्ट कर दिया गया। ब्रह्मसूत्र के अध्याय १ पाद १ में उपनिषदों के उन वचनों पर विचार किया गया है, कि जिन में साफ तौर पर कोई ऐसा धर्म पाया जाता है, जो ब्रह्म में ही घट सक्ता है, शेष धर्म किसी देवता, भौतिक वा अध्यात्म पदार्थ के प्रतीत होते हैं। वहां उसी एक धर्म के सहारे पर यह सिद्ध कर दिया गया है, कि यह धर्म केवल ब्रह्म में ही घट सक्ता है, इसलिये यहां ब्रह्म का ही वर्णन है, शेष धर्म जो दूसरे पदार्थ के प्रतीत होते हैं, वे भी ब्रह्म में घट सक्ते हैं, क्योंकि दूसरे पदार्थों के सारे काम ब्रह्म के अधीन हैं, इसलिये यहां ब्रह्म का ही वर्णन है। और यद्यपि ब्रह्मसूत्रों पर कई एक विषयों में आचार्यों का मत भेद है, पर ऊपर कहे हुए विषय में सब एक-मत हैं। इसीरीति पर जब वेदमन्त्रों को विचारें, तो वहां भी आप ऐसा ही पाएंगे, कि जहां अग्नि का वर्णन है, वहां कई एक ऐसे धर्म हैं, जो इस अग्नि में घट सक्ते हैं, पर कई एक धर्म स्पष्ट ऐसे होंगे, जो केवल ब्रह्म में ही घट सक्ते हैं। अब यहां क्या निर्धारण होना चाहिये, उपनिषदों के ऐसे स्थलों में जो निर्धारण वेदाचार्य्य भगवान् वेदव्यास ने किया है, और दूसरे आचार्यों ने एकमत हो कर जिसको स्वीकार किया है, वही निर्धारण यहां भी होना चाहिये। और ऐसा मानने में हम ठीक न्याय पर चलते हैं, क्योंकि जो धर्म ब्रह्म में ही रहसक्ते हैं, उनको किस

तरह किसी और में कल्पना कर लें। ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद १ में तो उपनिषदों के उन विषयों पर विचार है, जहां कोई स्पष्ट चिन्ह ब्रह्म के विषय का पाया जाता है, पर दूसरे और तीसरे पाद में उन वाक्यों पर विचार है, जहां ब्रह्म के विषय का स्पष्ट चिन्ह नहीं, किन्तु अस्पष्ट चिन्ह है, वहां पहले उस अस्पष्ट चिन्ह को स्पष्ट किया है, और फिर यह सिद्ध किया है, कि यहां भी ब्रह्म का ही वर्णन है। वेद का तात्पर्य समझने में भी ऐसी ही सूक्ष्मदृष्टि की अपेक्षा है, जब इस दृष्टि से देखा जाएगा, तो उस ब्रह्मवेत्ता ऋषि का वचन समझ में आजाएगा, जिसने वेद के मर्म को समझा, ब्रह्म को साक्षात् किया और फिर कहा "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति"

उपनिषदों की नाईं धर्मशास्त्र भी इसी आशय पर पहुंचाते हैं और इस लिये हम मनुस्मृति से नीचे उद्धृत करते हैं—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्॥

(मनु० १२।११९)

(इन्द्र आदि) सारे देवता परमात्मा ही है, परमात्मा में ही सब कुछ ठहरा हुआ है॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(मनु० १२।१२२, १२३)

जो सब पर शासन करने वाला है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, तेजोमय है, समाधि की बुद्धि से जानने योग्य है, उस परम पुरुष को जानना चाहिये ॥ १२२ ॥ इसी को कई लोग अग्नि कहते हैं, दूसरे मनु और प्रजापति, कई इन्द्र, कई प्राण और दूसरे नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥ १२३ ॥

इस प्रकार के प्रमाणों का सब प्रकार के ग्रन्थों से एक भारी संग्रह किया जासक्ता है, पर यह पढ़ने वालों को थकाने वाला होगा, इसलिये इतना ही पर्याप्त समझकर अब यह दिखलाते हैं, कि वेदों के विषय में दूसरे भाष्यकार और टीकाकार भी हमारे इस सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं, ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में:—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानिजज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य्य लिखते हैं, कि यह मन्त्र "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इस प्रकरण में है, इसलिये इसका अर्थ यह है, कि उस (परमेश्वर) से जो यज्ञ अर्थात् पूजनीय है और सर्वहुत् अर्थात् जिसके लिये सब लोग होम करते हैं। सर्वहुत्, का अर्थ लिखते ही यह प्रश्न सामने आगया, कि होम तो इन्द्र आदि देवताओं के नाम पर किया जाता है, तुम कैसे कहते हो कि परमात्मा सर्वहुत् है, इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं:—

यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः।

तथाच मन्त्र वर्णः "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इति । वाजसनेयिनश्चामनन्ति—"तद्यदिदमाहुरमुंयजामुंयजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः" इति । तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते ॥

यद्यपि इन्द्र आदि के लिये ही वहां २ होम किया जाता है, तथापि परमेश्वर ही इन्द्र आदि स्वरूप से स्थित है, इसलिये यह दोष नहीं । जैसाकि मन्त्र में कहा है, एक सत् को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से कहते हैं, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा कहते हैं । वाजसनेयी शाखा वाले भी पढ़ते हैं—"सो जो यह कहा जाता है, कि उस की पूजा करो, उसकी पूजा करो,इस प्रकार एक २ देवता की। इसी की यह विविध सृष्टि है, यही सारे देवता है" इस से सिद्ध है, कि सब लोग एक परमेश्वर के लिये ही होम करते हैं ॥

इसी प्रकार १ । १६४ सूक्त का सायण भाष्य भी हमें इसी आशय पर पहुंचाता है ।

महीधर–उव्वट और राजा गिरिप्रसाद–वाजसनेयी संहिता के आरम्भ में ही "देवो वः सविता" इसकी व्याख्या करते हुए महीधर ने लिखा है–सवितादेव, अर्थात् अपने २ कर्तव्य में लगाने वाला द्योतमान परमेश्वर । फिर हम–"तदेवाग्निः"

(३२ । १.) की व्याख्या में इसी विषय को और स्पष्ट देखते हैं। इन्हीं स्थलों का उव्वटभाष्य और चन्द्रवंशी पाण्डव गिरिप्रसाद देववर्मा के रचित भाषा भाष्य से भी यही बात स्पष्ट प्रतीत होती है

आनन्दतीर्थ—आनन्दतीर्थ ने ऋग्भाष्य के आरम्भ में गायत्रीमन्त्र के अर्थद्वारा परमात्मा का निरूपण करके यह लिखा है:—

स पूर्णत्वात् पुमान्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिल वेदार्थः....

वही सारे परिपूर्ण है, इसलिये पुरुषसूक्त में उसे पुरुष कहा है। और वही सारे वेद का अर्थ है। इस विषय में बहुत से हेतु देकर, जब सूक्तों का भाष्य आरम्भ किया है, तो वहां अग्नि, वायु इत्यादि से परमात्मा का ही वर्णन सिद्ध किया है॥

भट्टभास्कर ने तै० सं० की व्याख्या में पहले मन्त्र पर ही लिखा है:—

तत्रैकैव महती देवताग्निवायुसूर्यरूपेण विभक्ता सर्वत्र ध्यातव्या। तासां विभूतयः पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थाना अन्या अपि देवता इति नैरुक्ताः॥

एक ही देव अग्नि, वायु और सूर्यरूप से अलग २ हुआ सब जगह समझना चाहिये, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ में रहने वाले और सारे देवता उनकी विभूतियें हैं। फिर इसी मन्त्र में "सविता" का अर्थ इस प्रकार दिखलाया है "सविता स-

र्वस्य प्रेरकः, येन विना तृणाग्रमपि न चलति"
स.विता = सब का प्रेरने वाला, जिसके विना तिनके का सिरा भी नहीं हिलता। १। २। १४ की व्याख्या में (याहि) = जा, यह अग्नि का विशेषण देखकर उसपर लिखा है—

नहि देवो विश्वात्मा कुतश्चिदायाति नक्वचिद्याति, स्तुतिः खल्वियं क्रियते स्वाभिलषित सम्पादनानुरूपा—याहि, आयाहि, उत्तिष्ठ, प्रत्यातनुष्व, ऊर्ध्वोभव इत्यादिस्वरूपा ॥

सर्वान्तर्यामी देव न कहीं से आता है, न कहीं जाता है। इसलिये जा, आ, उठो, फैलाओ और ऊपर हो, इत्यादि शब्दों से अपने मनोरथ सिद्धि के लिये केवल स्तुति ही है। *

यहां यह दिखलाना भी उपयोगी है, कि परमात्मा के इस रीति से वर्णन करने में क्या गुण है। सच तो यह है, कि सर्वान्तर्यामी का वर्णन ही इसी रीति पर होसक्ता है और इसीलिये अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृह० ३। ७) में देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत, इन्द्रिय और आत्मा में अलग २ उसकी अन्तर्यामिता दिख

* आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि में जो सन्ध्याभाष्यसमुच्चय छपा है, उन में से कई एक भाष्यों में अग्नि, जातवेदस्, वरुण, मित्र और अप् आदि शब्दों से स्पष्ट परमात्मा का वर्णन किया है और बव्हृच सन्ध्यापद्धतिभाष्य में, भूः, भुवः इत्यादि सात व्याहृतियों का अर्थ परमेश्वर सिद्ध करते हुए यह प्रमाण उद्धृत किया है—

"तत्र तत्र स्थितो विष्णु स्तन्नाम्नोच्यते बुधैः"

उस २ में रहने वाला विष्णु उसी २ नाम से बोला जाता है॥

लाई है। इसलिये सर्वान्तर्यामी के वर्णन करने की रीति ही इस से भिन्न नहीं होसक्ती। और फल इसका यह है, कि जो अपने मालिक को इस प्रकार सर्वान्तर्यामी देखता है, वह सदा अपने मालिक को अपने सामने और अपने साथ देखता है और उसके

नीलकंठ—महाभारत की टीका में नीलकण्ठ ने जो बहुत जगह पर इन्द्र आदि शब्दों से परमात्मा का वर्णन माना है, उस में से हम दो स्थल दिखाते हैं १। १। २२ की व्यख्या में सब से पूज नीय एक ही परमात्मा है, यह दिखलाते हुए किसी स्मृति का प्रमाण दिया है—

"यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति,सामभिःस्तुवन्ति"

कि ऋचाओं से उसी की स्तुति करते हैं और यजुओं से उसी के लिये यज्ञ करते हैं और साम मन्त्रों से उसी के स्तोत्र पढ़ते हैं। और फिर १। ३। ५६ की व्याख्या में अश्विदेवताओं का वर्णन करते हुए यह लिखा है "उभाउनूनं" (१०। १०६। १) इस मन्त्र में "वितन्वाथे धियः" इन पदों से अश्वियों को अन्तर्यामी बतलाया है, और इसका अर्थ 'धियो यो नःप्रचोदयात्' के बराबर है, इसलिये अश्वि ब्रह्म हैं, और इसके आगे मन्त्र ६ में "जर्भरीतुर्फरीतू" ये दो शब्द अश्वियों के विशेषण हैं, अर्थात् पालन करने हारे और प्रलय करने हारे, पालन और प्रलय करना भी ब्रह्म का ही धर्म है, इसलिये यहां अश्वियों के द्वारा ब्रह्म का उपदेश दिया है इत्यादि।

हम जानते हैं,कि यह संग्रह हमारे पाठकों के लिये रुचिकर नहीं होगा, पर यह जितलाना आवश्यक था, कि आर्यावर्त में वैदिक विद्या की बहुत ही थोडी चर्चा रह जाने पर भी यह विचार बिल्कुल अस्त नहीं हुए। हां इसमें भी सन्देह नहीं,कि वेदोंका पवित्र धर्म जो एक बार अज्ञात होगया है,उसको फिर अपने असली स्वरूप में प्रकाश करने के लिये आर्यावर्त में फिर पूरा प्रयत्न नहीं हुआ। स्वामी शङ्कराचार्य्य के प्रबल काम के पीछे हम फिर से एक

जीवन में धर्मबल और निर्भयता दोनों का वास होता है, उसका जीवन धर्म का जीवन, सचाई का जीवन, और शूरवीरता का बन जाता है।

बार शैव और वैष्णव सम्प्रदायों को अपने पुराने धर्म के उद्धार में प्रवृत्त हुआ देखते हैं, हम उनके उस समय के ग्रन्थों में वैदिक उच्च भावों की झलक देखते हैं, पर साथ ही शोक के साथ यह भी देखते हैं, कि यह काम अभी आरम्भ ही हुआ था और नए संस्कारों और साम्प्रदायिक विवादों से अभी शुद्ध नहीं हुआ था, कि यह काम उसी अवस्था में बंद होगया। उसकी कई शताब्दियां पीछे आज हमारे समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रबल कामने फिर आर्यावर्त को वेदों की ओर झुकाया है। और हम देखते हैं कि वेदों में अनेक विभूतियों द्वारा जिस प्रकार परमात्मा का वर्णन हमने ऊपर दिखलाया है, यह हमारे नए साथियों से स्वीकार किया गया है। विक्रमी संवत् १९४१ में पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव ने यजुर्वेद का भाष्य छपवाया, उसके आरम्भ में वह लिखते हैं:—

वेदेषु व्यक्ताव्यक्तेश्वरस्यैवस्तुतिरूपा मन्त्राः सन्ति तस्मात्तन्नामब्रह्मच" सारे वेदों में शुद्ध और शबल ब्रह्म की ही स्तुति गाने वाले मंत्र हैं, इसीलिये वेदों का नाम ब्रह्म है। इसके आगे इसी बात को श्रुति स्मृति के प्रमाणों से सिद्ध किया है। और फिर मन्त्रों की व्याख्या में सारे मंत्रों का एक २ अर्थ अध्यात्म विद्या में लगाया है और उस में अग्नि आदि सब ब्रह्म के नाम पाये जाते हैं। मार्च सन् १८८० ई० में उन्होंने सामवेद का भाष्य छपवाया यह भाष्य भी यजुर्वेद के भाष्य की रीति पर एक अर्थ में अध्यात्म विद्या का प्रकाशक है॥

और अभी विक्रमी सम्वत् १९५१ में वाजसनेयी संहिता का जो भाष्य पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने छपवाया है, उस में वह पहले ही मन्त्र की व्याख्या में यह शंका उठाते हैं कि जड़ों को सम्बोधन करने से क्या लाभ है, क्योंकि वे सुनते नहीं हैं। इसके उत्तर

जो इस भान्ति हरएक समय अपने मालिक को अपने निकट देखेंगे, उनके भाव उच्च होंगे और वे बड़े ही सदाचारी होंगे। एम०वार्थ साहिब बहुत ठीक कहते हैं, कि वैदिक देवता निकटवर्ती स्वामियों की नाईं हैं और वे मनुष्यों से अपने धर्म्म का उचित प्रतिपालन चाहते हैं, लोगों को उनसे निष्कपट होना चाहिये, क्योंकि उनको (देवताओंको) धोखा नहीं दिया जा सक्ता, स्वयं वे भी किसी को धोखा नहीं देते, अतएव उन (देवताओं) का यह हक़ है, कि वे मित्र भाई और पिता की भान्ति अपने ऊपर लोगों का विश्वास तथा प्रीति प्राप्त करें। ....मनुष्यों को अपवित्र बनने की अनुमति कैसे दी जासक्ती है, जबकि स्वयं देवता पवित्र हैं। सूक्तों में निःसन्देह यह एक अद्भुत बात है, कि उनमें कोई दुष्ट प्रकृति के देवता नहीं पाए जाते। कोई नीच और हानि कारक बात नहीं पाई जाती.... ....अतएव हमलोगों को यह स्वीकार करना चाहिये, कि सूक्तों में एक उच्च और विस्तृत धर्म की शिक्षा पाईजाती है। (एनशैंट इन्डिया १।६)—

इस उद्धृत भाग में यह बात कैसी स्पष्ट दिखलाई गई है, कि वैदिक देवता स्वयं पवित्र हैं, निष्कपट हैं, उनकी पूजा करने

का सारांश यह है, कि ये जड़के सम्बोधन नहीं, ये सब चेतन परमात्मा के सम्बोधन हैं, क्योंकि "सारे वेद उसीको बतलाते हैं" इसके आगे मन्त्रों की व्याख्या में भी हम अग्नि आदि शब्दों से परमात्मा का वर्णन देखते हैं। देखो (१।१;३।८;३।१७;४।२४;३।२८) ये प्रमाण हमें इतने ही अंश में अभिप्रेत हैं, कि वेदों के अभ्यास से हरेक को यह बात आसानी से प्रतीत हुई है, कि वेद में एक परमात्मा को अनेक प्रकार से वर्णन किया है। और किसी अंश में हम इन प्रमाणों के ज़िम्मेवार नहीं,

वाला पवित्र और निष्कपट बनेगा। वैदिक देवता न किसी को धोखा देते हैं और न कोई उनको धोखा देसक्ता है। उन पर हमारा विश्वास और प्रेम इस भान्ति है, जैसे मित्र का मित्र में भाई का भाई में और पुत्र का पिता में होता है। हम अपने देवता के साथ इस से बढ़कर और क्या सम्बन्ध रखसक्ते हैं, हमारा देवता हमारे लिये भयानक नहीं और दुष्प्राप नहीं। वह ऐसा ही हितैषी है, जैसे पिता पुत्र का, भाई भाई का और मित्र मित्र का और ऐसी ही आसानी से उसके पास जासक्ते हैं, जैसे पुत्र पिता के।

ऐसा सच्चा धर्म निःसंन्देह इस योग्य है, कि वह सारी दुनिया का धर्म बने। एम० बार्थ साहेब का यह वचन कैसा सचाई से भरा हुआ है, कि हम लोगों को यह मानलेना चाहिये, कि सूक्तों में जिस धर्म की शिक्षा है। वह एक बड़ा उच्च और विस्तृत धर्म है। वैदिक धर्म संकुचित नहीं, वह किसी एक जाति वा एक देश का धर्म नहीं, वह एक ऐसा फैला हुआ धर्म है, जिसकी छाया में सारे देश और सब जातियां विश्राम पासक्ती हैं।

ऐम० बार्थ साहिब की एक बात से हमारा मेल नहीं. और वह यह है, कि सूक्तों में देवता अनेक नहीं, किन्तु एक ही देवता अनेक भेदों से वर्णन किया है, सो हम पूर्व दिखला आए हैं।

और हम यह देखते हैं, कि वेद में स्वयं इस भ्रान्ति को बड़ी अच्छी तरह दूर कर दिया गया है जैसाकि पूर्व (३९ पृष्ठ में) दिखला आए हैं—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशतोदेवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥

यहां तक हमने वेद के और दूसरे ग्रन्थों के प्रमाणों के द्वारा यह दिखलाया है, कि वेद एक ही परमशक्ति परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं और यह भिन्न २ देवता उसकी महिमा के प्रतिपादन करने का द्वार हैं। अब हम इस विषय में थोड़ा सा तर्क भी दिखलाना चाहते हैं। हम पूर्व (७४ पृष्ठ में) लिखआए हैं—

प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि-
परि ता बभूव।

हे प्रजा के मालिक! तेरे विना कोई दूसरा इन सब पर हकूमत नहीं कर रहा है। इस मन्त्र में दिखलाया है, कि वह सबका ईश्वर है और उसके सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं, यह क्यों! इसलिये, कि यदि दो बराबर के ईश्वर हों, और उन दोनों की कदाचित् एक ही वस्तु के विषय में विरुद्ध इच्छा हो, एककी यह इच्छा हो कि यह वस्तु बहुत देर तक बनी रहे और दूसरे की इच्छा हो, कि अभी नष्ट होजाए, तो उनदोनों में से एक की इच्छा पूरी होगी, अब जिसकी इच्छा फल नहीं लाएगी, वह दूसरे के बराबर नहीं होसक्ता और वह ईश्वर नहीं हो सक्ता। या दोनों तब बराबर रह सक्ते हैं, जब कि दोनों की इच्छा पूरी नहो, पर ऐसी अवस्था में ईश्वर दोनों ही नहीं बन सक्ते। या दोनों तब बराबर हो सक्ते हैं, कि दोनों की ही इच्छा पूरी होजाए, सो हो नहीं होसक्ता, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध इच्छा रखरहे हैं। और यदि यह कहो, जब कि उनकी इच्छा कभी एकदूसरे के विरुद्ध होती ही नहीं, इसलिये यह दोष नहीं आता, तब दूसरा ईश्वर मानने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि जो एक की इच्छा है, यदि उसके अनुसार काम पूरा होजाता है, तो उसी

काम को पूरा करने के लिये दूसरे की इच्छा कोई अधिक फल नहीं लाती। यदि यह कहो, कि सारे ईश्वर मिलकर एक सम्मति करके काम करते हैं, जैसे अन्तरङ्गसभा (पंचायत) किया करती है, तो उन में से कोई भी ईश्वर नहीं, क्योंकि किसी एक का इख्तियार नहीं। और यदि यह कहो, कि वारी से ईशना (हकूमत) किया करते हैं, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो धर्म नित्य है, वह वारी को नहीं देखता। यदि वह सदा ईशना करत है, तो उसकी ईशना नित्य है और यदि कभी करता है और कभी नहीं, तो उसकी ईशना अनित्य है, और अनित्य ईशना को रखकर ईश्वर नहीं होसक्ता, ईश्वर वही है, जो सदा ईश्वर है, जो कभी अनीश्वर है, वह कभी भी ईश्वर नहीं। और आप अपनी तरह उसके थकने की चिन्ता न करें, जिस के लिये वारी की जरूरत पड़ती है, वह सर्वशक्ति अकेला ही अपने सारे काम आप साधता है और हमेशा साधता है। इसलिये—

स एष एक एक एक वृदेक एव

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम्॥

॥ विषय सूची ॥

विषय			पृष्ट

इस ग्रन्थ में जो २ प्रमाण उद्धृत हुए हैं उनका सूची।

धर्मसम्बन्धी और विद्यासम्बन्धी पुस्तकें

॥ आर्षग्रन्थावलि ॥

यह मासिक ग्रन्थावलि दिसम्बर १९०४ से निकलनी आरम्भ हुई है। इस में वेद, उपनिषद् और धर्मसूत्रों के सरल हिन्दी उल्थे छपते हैं। संस्कृत और इङ्गलिश के योग्य विद्वानों ने इस का आदर के साथ स्वागत किया है और इसके परिश्रम का कदर की है। हम २० समाचार पत्रों की सम्मति नीचे प्रकाशित करते हैं—

"यह ग्रन्थावलि सचमुच एक नया प्रकाश लाने वाली है" "पण्डित राजाराम जी संस्कृत प्रोफ़ेसर डी०ए०वी कालिज इस ग्रन्थावलि के द्वारा उन सचाइयों को रोशनी में लाना चाहते हैं, जिनपर ज़माना के हाथों परदा पड़ चुकाहै" काम बहुत बड़ा है और....(सम्पादककी प्रशंसा छोड़दी है)लेख सरल और मीठा है, "पण्डित जी जिस सौन्दर्य्य और विस्तार के साथ लिख रहे हैं उसका सम्बन्ध केवल देखने से ही है। ऐसा पूरा विचार यदि सारे आर्षग्रन्थों पर लिखा जाएंगा, तो निःसंदेह नागरी के साहित्य में एक बड़ी भारी बढ़ती होगी। "इससे आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय बढेगा, जो इसका उद्देश्य भी है" यह उचित है, कि सारी की सारी कौम "नागरी प्रचाणीसभाएं" "आर्य्यसमाजें" इसकाममें पूरी मदद देकर सम्पादक का हौसला बढ़ाये ॥

समाचार पत्रा के नाम हम अलग प्रकाशित करेंगे। इसके सिवाय योग्य २ विद्वानों के प्रशंसा पत्र भी हैं ॥

अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकखर्च समेत .... ३)

पता—

मैनेजर

आर्षग्रन्थावलि लाहौर ॥